अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष
कुलपति
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
1.प्रो0 अरविंद के जोशी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)
2.प्रो0 बी.मोहन कुमार, जी.बी.पंत कृषि व प्रोद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड

संयोजक
निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	इकाई संख्या
Ms.Shalini Chaudhary UOU Haldwani	3
Dr.Naveen Joshi, Wildlife Institute of India, Dehradun Uttrakhand	1,7
Dr. Pankaj Tiwari, Executive Director, CHEA Nainital	2,5,6,8
Dr. Harish C Joshi, UOU, Haldwani	4
Translation of Units: Punit Chaturvedi	2,5,6,8

संपादन

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष- 2020

प्रकाशन- उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

सर्वाधिक सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी

MASO-609

पहाड़ी क्षेत्र में सतत विकास– II

Sustainable Development in Hill Area -II

Block I	**Environmental Issues and People's Consciousness**	
Unit 1:	**Environmental degradation and pollution of natural resources** पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों का निम्नीकरणऔर प्रदूषण	पृष्ठ–1–33
Unit 2:	**Mobilizing communities for protection of environment: Role of NGOs, Women and stakeholders** पर्यावरण सुरक्षा के लिये समुदायों का संगठनः गैर सरकारी संस्थाओं, महिलाओं और हित धारकों की भूमिका	पृष्ठ–34–48
Unit3:	**Eco-spirituality and conservation ethics** पर्यावरणआध्यात्मिकता और संरक्षण नीति-शास्त्र	पृष्ठ–49–57
Unit 4:	**Disaster Management** आपदा प्रबंधन	पृष्ठ–58–107
Block III	**Sustainable Development in Hill Areas**	
Unit 5:	**Challenges of development in hill areas** पर्वतीय क्षेत्रों में विकास की चुनौतियां	पृष्ठ–108–121
Unit 6:	**Models of sustainable development** सतत विकास के मॉडल	पृष्ठ–122–144
Unit 7:	**International conventions and frameworks of sustainable development and local communities** सतत विकास और स्थानीय समुदायों के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन और ढांचे	पृष्ठ–145–159
Unit 8:	**Poverty reduction, livelihood and sustainable development in hill areas** पर्वतीय क्षेत्रों में गरीबी उन्मूलन, आजीविका एवं सतत विकास	पृष्ठ–160–186

इकाई 1- पर्यावरणऔर प्राकृतिक संसाधनों का निम्नीकरणऔर प्रदूषण

इकाई की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधन: परिभाषा तथा महत्त्व

1.4 पर्यावरणीय निम्नीकरण

1.5 पर्यावरणीय निम्नीकरण के कारण

1.6 पर्यावरणीय निम्नीकरण के प्रभाव

1.7 प्रदूषण

(कवायु(प्रदूषण
(ख)जल प्रदूषण
(खध्वनि(प्रदूषण
(घ)भूमि प्रदूषण

1.8 सारांश

1.9 अभ्यासप्रश्न

1.1 उद्देश्य

हमारी यह इकाई आपको पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों के निम्नीकरण एवं विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों के बारे में अवगत कराती है।यह इकाई प्राकृतिक संसाधनों के वाणिज्यीकरण पर लक्षित विकास के फलस्वरूप होने वाले विभिन्न हानिकारक प्रभावों एवं प्रदूषण से आपका परिचय कराती है।इसके अतिरिक्त पर्यावरण निम्नीकरण एवं प्रदूषण के विभिन्न कारणों पर भी चर्चा की गयी है।

1.2 प्रस्तावना

मानव के अस्तित्व और जीवन की गुणवत्ता के लिए पर्यावरण के प्रमुखतत्वों की सुरक्षा महत्वपूर्ण है।स्वच्छहवा, भूमि, पीने का पानी और अपशिष्ट और शोर जैसी चीजों केहानिकारकप्रभावों के खिलाफ संरक्षित होने की क्षमता हमारे कल्याण के लिए मूलभूत है। पारिस्थिति की तंत्र मनुष्यों और अन्य सभी प्रजातियों के लिए प्राकृतिक सेवाएं प्रदान करते हैं जो हमारे स्वास्थ्य, जीवन की गुणवत्ता और अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं।सतत विकास का मुख्य उद्देश्य वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों के जीवन की गुणवत्ता सुनिश्चित करना है।जीवनकीगुणवत्तास्वस्थपरिवेश (पर्यावरण), सक्षमस्तर(आर्थिक) और शारीरिक, बौद्धिक औ रनैतिक रूप से संतोषजनक (सामाजिक) जीवन जीने का एक तरीका है।

1.3 पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधन: परिभाषा तथा महत्त्व

पर्यावरण शब्द की उत्पत्ति "परि" (जो हमारे चारों ओर है) और "आवरण" (जो हमें चारों ओर से घेरे हुए है) को मिलाकर हुई है।पर्यावरण उन सभी भौतिक, रासायनिक एवं जैविक कारकों की इकाई है जो किसी मनुष्य अथवा पारितंत्रीय आबादी को प्रभावित करते हैं तथा उनके रूप, विकास और जीवन चक्र को तय करते हैं।पर्यावरण के मुख्यतःदो घटक होते हैं जैविक घटक एवं अजैविक घटक।जैविक घटक के अंतर्गत पृथ्वी पर रहने वाले सारे जीव-जंतु आते हैं जैसे मनुष्य, वन-जीव जंतु, वृक्ष एवं सूक्ष्म जीव तथा वायु, जल, खनिज, भूमि आदि मिलकर अजैविक घटक कहलाते हैं।पर्यावरण में ये दोनों घटक एक दूसरे के लिए अतिआवश्यक होते हैं तथा अपनी पुनरुत्पादन हेतु एक दूसरे पर निर्भर करते हैं।

पृथ्वी एक मात्र ऐसा गृह है जिस पर जीवन संभव है।जिन चीजों की मनुष्य को उनके अस्तित्व और आराम के लिए आवश्यकता होती है उन्हें संसाधन कहा जाता है।हमें अपनी आवश्यकता के सम्पूर्ण संसाधन एवं जीवन हेतु अन्य आवश्यक सामग्रियाँ पर्यावरण से प्राप्त होती हैं, जिस मे जल, वायु, भोजन एवं खनिज मुख्य हैं। प्राकृतिक संसाधन पृथ्वी पर पाये जाने वाले प्राकृतिक पदार्थ हैं जिससे पृथ्वी पर जीवन सतत चलता है।इसमें पृथ्वी की अन्य सभी मूल्यवान विशेषताएं जैसे चुंबकीय, गुरुत्वाकर्षण, विद्युत गुण और बल भी शामिल हैं।इस प्रकार पृथ्वी पर उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों में सभी वनस्पति और जीव जंतुओं के साथ-साथ सूरज की रोशनी, वायुमंडल, पानी, भूमि, वायु और सभी खनिज, विशेषताएं और पदार्थ जो स्वाभाविक रूप से पहले से मौजूद थे सम्मलित हैं।संक्षेप में संसाधन वे

होते हैं जो उपयोगी हो या फिर मनुष्य को अपनी जरूरतों को पूरी करने हेतु उपयोगी बनाये जा सकते हैं। संसाधन के परोक्ष रूप से उपयोग करने हेतु, उपलब्ध हो, प्राकृतिक संसाधन कहलाते हैं।

संसाधनों को मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है नवीकरणीय(Renewable)एवं गैरनवीकरणीय या अनवीकरणीय (Non-renewable) संसाधन।नवीकरणीय संसाधन वो संसाधन होते हैं जिसे बार-बारउपयोग किया जा सकता है और स्वाभाविक रूप से और अपेक्षा कृत कम अवधि में प्रतिस्थापित किया जा सकता है।उदाहरण के लिए ऑक्सीजन, वृक्ष, मछली, सौरऊर्जा (Solar energy), भू-तापीय ऊर्जा (Global warming), और बायोमास (Biomass), कागज़ औ रचमड़ा इत्यादि शामिल हैं।सतत संसाधन या निरपेक्ष नवीकरणीय संसाधन सौर, वायु और ज्वारीय ऊर्जा वास्तव में मानव के जीवन काल में कभी समाप्त न होने वाले संसाधन हैं।दूसरी ओर, गैर नवीकरणीय या अनवीकरणीय संसाधन वो संसाधन होते हैं जो समय के साथ समाप्त हो जायेंगे तथा जिनको प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता है जैसे, गैसोलीन, कोयला, प्राकृतिक गैस, डीजल, प्लास्टिक और अन्य जीवाश्म ईंधन (Fossil fuel) नवीकरणीयन हीं हैं जिन्हें अनवीकरणीय संसाधन भी कहा जाता है।प्राकृतिक संसाधनों को जैविक एवं अजैविक प्राकृतिक संसाधनों में भी वर्गीकृत किया जा सकता है।जैविक प्राकृतिक संसाधन वे संसाधन हैं जो पारिस्थिति की (जैविक और जीवित सामग्री) से आते हैं। इनमें जानवर, जंगल (वनस्पति), और अन्य सामग्रियों जैसे संसाधन शामिल हैं।पेट्रोलियम, तेल और कोयले जैसे जीवाश्म ईंधन भी इस समूह में शामिल हैं क्योंकि वेक्षीण कार्बनिक पदार्थ से उत्पन्न होते हैं।अजैविक प्राकृतिक संसाधन वे हैं जो गैर-जैविक और गैर-जीवित सामग्री से आते हैं।अजैविक प्राकृतिक संसाधनों के उदाहरणपानी, जमीन, वायुऔरलोहे, तांबा, चांदी, सोना आदि जैसे भारी धातुएं हैं।

पर्यावरण संसाधनों का जलाशय है और पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व के लिए पर्यावरण एक मात्र कारक है।।इसके बिना, पृथ्वी पर कोई जीवन नहीं हो सकता है।हमारे सौर मंडल में कई अन्य बड़े ग्रह हैं लेकिन पर्यावरण की कमी के कारण वहाँ जीवन नहीं है।पौधे और जानवर सहित पृथ्वी के सभी जीवित प्राणी जीवित रहने के लिए पर्यावरण पर निर्भर हैं। जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक सभी घटकों को पर्यावरण के माध्यम से प्राप्त किया जाता है।जीवित रहने के लिए आवश्यक वायु, जल, भूमि, भोजन इत्यादि पर्यावरण के माध्यम से अधिग्रहण की जाती है।जीवित प्राणियों के सभी विकास पर्यावरण में किए जाते हैं।मानव सभ्यता के विकास के लिए प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करते हैं। इसलिए, जीवित जीवों के अस्तित्व, पुनर्निर्माण, पुनरुत्पादन, उत्पत्ति और विकास आदि जैसे सभी प्रावधान पर्यावरण के तहत किए जाते हैं।पर्यावरण हवा और जलवायु को विनियमित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस के साथहीयहप्राकृतिकसौंदर्यकास्रोतहै, और यह उचित शारीरिक और मानसि क स्वास्थ्य के लिए भी जरूरी है।पर्यावरण के प्राकृतिक संसाधनों को बनाए रखना और उनके सावधानी पूर्वक उपयोग को संरक्षण कहा जाता है। मानवता की संपूर्ण जीवन सहायता प्रणाली सभी पर्यावरणीय कारकों के कल्याण पर निर्भर करती है। पर्यावरण के संरक्षण में प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण शामिल है।

1.4 पर्यावरणीय निम्नीकरण

हमारा पर्यावरण गतिशील होता है तथा इसमें निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं।पर्यावरण में ये परिवर्तन प्राकृतिक (भूस्खलन और भूकंप जैसी कुछ प्राकृतिक घटनाएं) या मानव जनितकारणों से होते हैं। इन परिवर्तनों का जीवन के अनुकूलन होना पर्यावरण के निम्नीकरण(Environmental Degradation) का कारण बनता है। निम्नीकरणका अर्थ पर्यावरण सुविधाओं की गुणवत्ता में क्षति, गिरावट या कमी है।पानी और मिट्टी जैसे संसाधनों की मात्रा एवं गुणवत्ता में गिरावट या पूर्णतया समाप्त हो जाना और पारिस्थितिकतंत्र और परिनिवास का विनाश; वन्य जीवन का विलुप्त होना; और प्रदूषण मिलाकर पर्यावरण निम्नीकरण कहलाता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें ग्रह का प्राकृतिक वातावरण इस हद तक खराब हो जाता है कि ग्रह की जैव विविधता और सामान्य स्वास्थ्य में भारी कमी आ जाती है । दूसरे शब्दों में, इसे उपलब्ध संसाधनों, जैसे पानी, वायु, वनस्पति, जीव, मिट्टी इत्यादि के अत्यधिक शोषण के परिणाम स्वरूप पृथ्वी के प्राकृतिक परि वेश में गिरावट के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

पर्यावरणीय निम्नीकरण, पर्यावरण के विभिन्न पहलुओं जैसे प्राकृतिक संसाधनों, जैव विविधता, पारिस्थितिक तंत्र और पर्यावासों को पूरी तरह से नष्ट कर सकती है।उदाहरण के लिए, वायु प्रदूषण से अम्लीय वर्षा का निर्माण हो सकता है जो बदले में उन्हें अम्लीय बना कर प्राकृतिक जल प्रणालियों की गुणवत्ता को कम कर सकता है।यह पर्यावरणीय निम्नीकरण का एक विशिष्ट उदाहरण है। इसलिए पर्यावरणीय निम्नीकरण एक अवधारणा है जोकि वनों की कटाई (Deforestation), जैवविविधताहानि (Biodiversity loss), मरुस्थलीकरण (Desertification), वैश्विकतापन (Global warming), प्रजातियोंकेलुप्तहोने (Extinction of species), प्रदूषण (Pollution), और कई अन्य विषयों को सम्बोधित करती है।इस प्रकार वायु, पर्यावरणीय निम्नीकरण हमारे गृह औ र इस ग्रह पर रहने वाले जीवों के कल्याण और अस्तित्व के लिए एक प्रमुख खतरा एवं चुनौती है।पर्यावरण के निम्नीकरण के कारणों को मुख्यतःदो वर्गों में बाँटा जा सकता है जीव-जनित प्रदूषण और मानव प्रेरित प्रदूषण।

1. जीव-जनितप्रदूषण: प्राकृतिक स्रोतों से प्रदूषण को जीव-जनित (Biogenic) प्रदूषण कहा जाता है।सबसे आम प्राकृतिक प्रदूषक में से एक धूल है।धूल हवा से अपक्षय का परिणाम है।यह बहुत कम वनस्पति वाले क्षेत्रों से उड़ाता है, जो धुंध पैदा करता है और दृश्यता को कम करता है।धूल तूफान हवा और जल प्रदूषण का कारण बनता है।रेडियो धर्मीक्षय से निकलने वाली राडोन गैस जो पृथ्वी की परत के भीतर होती है, गंभीर वायु प्रदूषण का कारण बनती है और अस्थमा और एस्फेक्सिया (दम घुटना) जैसी बिमारियों का एक प्रमुख कारण है।पार्थे नियम हिस्टोरोफोरस (*Parthenium hysterophorus*) जैसे पौधे भी पर्यावरण के लिए खतरा हैं, जो वायु प्रदूषण का एक प्रमुख कारण हैं।इस पौधे के पराग कण हवा में तैरते हैं और अस्थमा, त्वचा रोग आदि का कारण बनते हैं, इसके अलावा यह पौधा बैंगन, टमाटर और मिर्च जैसे पौधों के विकास को रोकता है।

2. मानव प्रेरित प्रदूषण:पर्यावरणीय निम्नीकरण सामाजिक-आर्थिक, तकनीकी और संस्थागत गतिविधियों का परिणाम है।यह मानव जनित गतिविधियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से होता है जो विभिन्न पर्यावरणीय संसाधनों को प्रति स्थापित करने की तुलना में तेज दर से निकालने के लिए प्रेरित करता है, और इस प्रकार उन्हें कम कर देता है।पर्यावरणीय निम्नीकरण के लिए विभिन्न मानव गतिविधियों और कुछ प्राकृतिक प्रक्रियाओं को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है, जिसमे प्राकृतिक प्रक्रियाएं आज ज्यादा मानव गतिविधियों के कारण एक महत्वहीन हिस्सा बन कर रह गयी हैं। आज पृथ्वी के पर्यावरण पर हो रहे ज्यादातर परिवतनों का मुख्य कारण मनुष्य स्वयं है। ग्रह पर अधिकांश संसाधन गैर नवीनीकृत हैं, और जिस दर पर हम उनका शोषण कर रहे हैं, वेपहलेसेहीउनमेंसेकुछकोसमाप्तिकीकगार परलागए हैं।जीवाश्म ईंधन का शोषण इस का सबसे अच्छा उदाहरण है। बड़े पैमाने परशोषणनेदुनियाभर में जीवाश्म ईंधन भंडार को कम कर दिया है, जिसका हमें अभी तक कोई विकल्प या वैकल्पिक स्रोत नहीं मिला है।इस पर्यावरणीय मुद्दे में योगदान देने वाली अन्यमानवीय गतिविधियां शहरीकरण, अधिक जनसंख्या, वनों की कटाई, प्रदूषण, वन्य जीवों का शिकार आदि शामिल हैं।

1.5 पर्यावरणीय निम्नीकरण के कारण

पर्यावरणीय निम्नीकरण के मुख्य कारण निम्न हैं:

i. अधिक जनसंख्या और संसाधनों का अधिक शोषण:वैश्विक आबादी ने 1800 में 1 अरबसे 2018 में 7.6 अरब तक अभूत पूर्व वृद्धि का अनुभव किया है।उन्नत चिकित्सा विज्ञान के साथ जीवन प्रत्याशा में वृद्धि हुई है और इसलिए जनसंख्या बढ़ती जा रही है, और विशेषज्ञों ने अनुमान लगाया है कि 2050 तक कुल वैश्विक जनसंख्या 9.6 अरबतकपहुँचजाएगी।आबादीकीसापेक्षसंख्यामेंअचानकतेजवृद्धिकोजनसंख्याउछालकेरूपमेंजानाजाताहै।इसने खाद्य और आवास सहित कई पर्यावरणी य मुद्दों को जन्म दिया है तथा प्रत्येक दिन उत्पन्न होने वाली अपशिष्ट की मात्रा में खतरनाक रूप से वृद्धि हुई है।

बढ़ती मानव आबादी के कारण प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग पर भी दबाव बढ़ा है।बढ़ती जनसंख्या अक्सर प्राकृतिक संसाधनों के अधिक शोषण का कारण बनती है, और पर्यावरणक्षरण में योगदान देता है। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) की वैश्विक पर्यावरण दृष्टिकोण (Global Environment Outlook) मेंकियेगएएकअध्ययनकेअनुसार, स्वाभाविक रूप से होने वाले गैर-नवीकरणीय संसाधनों की अत्यधिक मानव खपत निकट भविष्य में उपलब्ध संसाधनों के लिए खतरा है और उन्हें भविष्य की पीढ़ियों के लिए उल्लेखनीय रूप से कम कर सकती है। निष्कर्षण और उपयोग के दौरान पर्यावरण को उल्लेखनीय रूप से नष्ट कर सकती है। ज्यादा जनसंख्या आमतौर पर खाद्य, लकड़ी, मछली, कपड़े, चमड़े, प्राकृतिक गैस, खनिज आदि जैसे प्राकृतिक संसाधनों की मांग को बढ़ाता है।इस प्रकार बढ़ती मानव जनसंख्या सभी समस्याओं का मूल भूतकारण है।

ii. दोष पूर्ण कृषि नीतियां: जनसंख्या में तेजी से वृद्धि के साथ भोजन की मांग में भी वृद्धि हुई है।इसके परिणाम स्वरूप मिट्टी को और अधिक उपजाऊ बनाने हेतु हानिकार कर सायनों के इस्तेमाल में वृद्धि हुई है।डीडीटी जैसे कीटनाश कों द्वारा छिड़कते समय जमीन तेजी से प्रदूषित होती है।झूमखेती और अतिचारण जैसी प्रथाएं मिट्टी के मृदा अपरदनका कारण बनती हैं।इससे प्रमुख नदियों और जलाशयों में अवसादन हो जाता है। यह अंततःभूमि की बंज र होने और प्रदूषण में वृद्धि का कारण बन जाता है।यही नहीं रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के उपयोग ने समुद्री जल वातावरण में वन्य जीवपरि निवास, प्राकृतिक जल संसाधन, आर्द्रभूमि और जलीय जीवन की गुणवत्ता को भी खराबकर दिया है।

iii. परिवहन:हाल के दिनों में निजी वाहनों में भारी वृद्धि हुई है।यात्री वाहन एक प्रमुख प्रदूषण योगदान कर्ता हैं, जोनाइट्रोजनऑक्साइड, कार्बन मोनो ऑक्साइड और अन्य प्रदूषण की महत्वपूर्ण मात्रा में उत्पादन करते हैं। 2013 में, परिवहन ने कार्बनमोनो ऑक्साइड और नाइट्रोजन ऑक्साइड के प्रदूषण में आधे से अधिक योगदान दिया, और हमारी हवा में उत्सर्जित हुए हाइड्रो कार्बन का लगभग एक चौथाई वाहनों द्वारा किया गया। यह आँखों को प्रभावित करता है एवं विभिन्न श्वसन सम्बन्धी बीमारियों को बढ़ाता है।कार्बनमोनो ऑक्साइड, ओजोन, कणपदार्थ, ऊपर सूची बद्ध प्रदूषण के अन्य रूपों में धुआं और अन्य वायु गुणवत्ता की चिंताओं का कारण बन सकता है, इसके अलावायेग्लो बलवार्मिंग में भी योगदान देता है।

iv. जल वायु परिवर्तन: मानव गतिविधियों और जनसंख्या वृद्धि के परिणाम स्वरूप जलवायु के वास्तविक स्वरूप में गंभीर परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जो वातावरण में ग्रीन हाउस गैसोंऔरकार्बन पदचिह्न (carbon footprint) उत्पन्न करते हैं।ये परिवर्तन जैव विविधता और प्रजातियों के अस्तित्व और उनके परिनिवास के साथ-साथ अन्य कई प्राकृतिक संसाधनों के लिए भी खतरा हैं।इन बदलावों से सबसे अधिक प्रभावित वो प्रजातियां होती हैं जो एक विशिष्ट वातावरण में रहते हैं एवं उनको जीवित रहने के लिए पूर्णतःअनुकूल पर्यावरण की आवस्यकता होती है।पर्यावरण में आये बदलावों से ऐसे जीवों का प्राकृतिक वातावरण बदल जाता है और उसमें इन बदली परिस्थितियों में पनपने और जीवित रहने की क्षमता नहीं होती।

v. वनोन्मूलन: वनों की कटाई या वनोन्मूलन खड़े जंगल या पेड़ों को काटने से सम्बंधित है, जहां भूमि को उस के बाद गैर-वन उपयोग में परिवर्तित किया जाता है।वृक्षों की कटाई मुख्यतः ईंधन (चार कोल या लकड़ी के रूप में) यानिर्माणकार्यहेतुइमारतीलकड़ीबेचेजानेकेलिएकियाजाताहै, जबकि कटान के बाद समतल भूमिका उपयोग, खन नया पशुओं के लिए चरागाह के रूप में किया जाता है। वनों की कटाई से ग्लोबल वार्मिंग का खतरा बढ़ता है, और इसे अक्सर बढ़ती हुईग्रीनहा उस गैसों के प्रमुख कारणों में से एक के रूप में उद्धृत किया जाता है। इसने मौसम की स्थिति जैसे पर्यावरणीय प्रक्रियाओं में बदलाव के कारण मनुष्यों पर भी प्रभाव डाला है। वनों की कटाई मिट्टी और भूजल के

साथ-साथ वायु मंडलीयनमी में पानी की सामग्री को कम कर देती है।वनों की कटाई मिट्टी के संयोजन को कम क र देती है, जिससे क्षरण, बाढ़ और भूस्खलन जैसी प्राकृतिक आपदाओं में बढ़ोतरी होती है।

वन जैव विविधता को सहारा देते हैं, वन्य जीवन के लिए आवास प्रदान करते हैं, इसकेअलावा, जंगल औषधीय संरक्षण को भी बढ़ावा देता है।वनोन्मूलन के कारण स्थानीय बाढ़ से मृत्यु और बीमारी का खतरा भी बढ़ सकता है।जैव विविधता में गिरावट का एक मुख्य कारण वनो का कम होना है। यह अनुमान लगाया गया है कि हम वर्षा वन वनों की कटाई के कारण हर दिन 137 पौधे, पशु और कीट प्रजातियों को खो रहे हैं, जो सालाना 50,000 प्रजातियों के बराबर होती है। अल्प कालिक आर्थिक लाभ हेतु वनों का अधिक शोषण, आमतौरपर दीर्घ कालिक आय और दीर्घ कालिक जैविक उत्पादकता के नुकसान की ओर ले जाते हैं।

vi.प्राकृतिक कारण:इस तथ्य के बावजूद कि पर्यावरण में निम्नीकरण मुख्यतः मानव गतिविधियों से जुड़ी समस्या है, प्राकृतिक कारण भी पर्यावरण के निम्नीकरण में योगदान देते हैं। दावाग्नि, तूफान, भूस्खलन, सुनामी और भूकंप जैसी प्राकृतिक घटनाएं स्थानीय पश-पक्षियों एवं अन्य जीवों एवं वनस्पतियों को किसी क्षेत्र से समाप्तया कम कर सकती हैं। ये आपदाएं उस परिदृश्य की प्रकृति को भी बदल सकती हैं जो इसे जीवन के समर्थन हेतु असमर्थ बना सकती हैं। इसके अलावा, तूफान और बाढ़ जैसी घटनाएं अन्यत्र वातावरण में आक्रामक प्रजातियों के प्रवास को बढ़ावा दे सकती हैं या पर्यावरण में बदलाव कर उसे नए क्षेत्र में जाने को मजबूर कर सकती हैं, जो इसके नए क्षेत्र में अतिक्रमणका कारण बन सकता है।

vii. भू-भरणस्थल:भू-भरणस्थल (Landfill site) एक ऐसी जगह होती है जहां बड़ी मात्रा में अपशिष्ट को जमीन में दफनाया जाता है । यह अपशिष्ट उपचार का सबसे पुराना और आम रूप है। भू-भरणस्थल अपने पारिस्थितिक तंत्र का नाश तो करता ही है साथ ही साथ आस-पास के पर्यावरण का भी नुकसान करता है।भू-भरणस्थल वन, विभिन्न प्राकृतिक आवासों और भूमिगत और सतही जल जैसे जल प्रणालियों पर विभिन्न प्रकार के रसायनों का निर्वहन करता है जो पर्यावरण को वनस्पति, पशु और मनुष्यों के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य बनाता है। यह पौंधों से होते हुए जन्तुवों की खाद्य श्रृंखला में प्रवेश करता है।लैंडफिल की दुर्गन्ध से तथा इसको जलाने से वायु प्रदूषण भी फैलता है ।

viii. तकनीकी केंद्रवाद:तकनीकी केंद्रितवाद उद्योग सहित प्रौद्योगिकी पर सभी गतिविधियों की एकाग्रता है। लगभग 1760 ई०में दुनिया ने औद्योगिकीकरण के एक नए युग में प्रवेश किया। यह कई पर्यावरणीय समस्याओं का कारण भी बना जैसे कि हवा, पानी और भूमि का तेजी से प्रदूषण इस तेजी से उद्योग उन्मुख जीवन शैली का परिणाम है। खनन, रंग (Paint) और रासायनिक उद्योग जैसे कई उद्योग पर्यावरण को प्रभावित करने के लिए अधिक प्रवण होते हैं क्योंकि वे सूक्ष्म कण पदार्थ को छोड़ देते हैं, जिसे श्वसनीयकण (Respirable suspended particulate matter) के रूप में जाना जाता है; येकण पदार्थन केवल हवा को प्रदूषित करते हैं बल्कि शहर के निवासियों में श्वास द्वारा प्रवेश लेते हैं।श्वास के माध्यम से यह कण युक्त हवा फेफड़ों को प्रभावित करती है और पूरे श्वसन प्रणाली को नुकसान

पहुंचाती है।यह शहरी आबादी के बीच अस्थमा और फेफड़ों के कैंसर का मुख्य कारक है।इसी प्रकार बिजली घर राख उत्सर्जित करते हैं जो फेफड़ों में रक्त जमाव का कारण बनता है और जल निकायों को प्रदूषित करता है।यह मनुष्यों को सबसे प्रत्यक्ष नुकसान का उदाहरण है।कण पदार्थ घर के अंदर प्रदूषण, एरोविलय और सड़क के किना रे खुले चूल्हे में खा नाप काने से भी आ सकते है।चमड़ा उद्योग भी रासायनिक अपशिष्ट जारी कर के प्रदूषण का कारण बनते हैं।

ix. अनुचित भूमि उपयोग योजना और विकास:शहरों की स्थापना, खनन, आवास विकास परियोजनाओं, कार्यालय के लिए स्थान, शॉपिंग मॉल, औद्योगिक स्थलों, पार्किंग क्षेत्रों, सड़क नेटवर्क और अन्य विकास कार्यों हेतु भूमिका अनियोजित रूपांतरण प्राकृतिक प्रदूषण और प्राकृतिक आवास और पारिस्थिति की तंत्र में गिरावट की वजह बनता है।उदाहरण के लिए, खनन और तेल अन्वेषण, पर्यावरण में जहरी ले पदार्थों को छोड़कर पर्यावरणीय गिरावट का कारण बनती हैं। क्षीण खानें साबित करती हैं कि प्राकृतिक संसाधन तेजी से घट रहे हैं और भूमि मरम्मत से परे प्रदूषित हो गई है।अनुचित भूमि उपयोग ने दुनिया भर में लाखों एकड़ प्राकृतिकवातावरण के नुकसान और विनाश को जन्म दिया है।

x. पर्यावरण प्रदूषण:प्रदूषण, चाहे वह हवा, पानी, जमीन या शोर किसी भी रूप में हो, पर्यावरण के लिए हानिकारक है। पर्यावरणीय प्रदूषण पर्यावरण के विभिन्न पहलुओं जैसे जैव विविधता, पारिस्थितिक तंत्र, प्राकृतिक संसाधनों और परी निवासों को पूरी तरह से नष्ट कर सकता है। आज ग्रह के अधिकांश प्राकृतिक वातावरण नष्ट हो गए हैं औ र प्लास्टिक तथा अन्य उद्योग संसाधित सामग्रियों जैसे जीवाश्म ईंधन दहन, औद्योगिक अपशिष्ट, और घरेलू उपयोगिताओं से उत्सर्जित जहरीले पदार्थों और रसायनों के कारण प्राकृतिक वातावरण का एक बड़ा हिस्सा खतरे में है।भूमि, वायु और जल प्रदूषण प्राकृतिक वातावरण की गुणवत्ता पर दीर्घ का लिक संचयी प्रभाव डालते हैं।प्रदूषण भूमि, मिट्टी, महासागरकेपानी, भूमिगतपानी, चट्टानों, और अन्य प्राकृतिक प्रक्रियाओं की रासायनिक संरचनाओं को प्रभावित करता है।जहरी ले प्रदूषण पर्यावरण को खतरा पैदा करते हैं।पेट्रोलियम उद्योग और रासायनिक विनिर्माण उद्योग प्रमुख अपशिष्ट उत्पादों का निर्माण करते हैं जो सीधे उपचार के बिना नजदी क धाराओं में प्रवाहित कर दिए जाते हैं परिणाम स्वरूपयेनदियों को प्रदूषित करते हैं और न केवल जलीय जीवन के लिए नुकसानदायक हैं बल्कि मनुष्य और अन्य जंगली जानवरों के लिए भी नुकसान देय हैं जो उस पानी का पीने और स्नान करने के लिए उपयोग करते हैं। परिवहन और उद्योगों से वायु प्रदूषण होता है जिसके परिणाम स्वरूप अम्लीय वर्षा का गठन होता है जो बदले में अम्लीय झील का निर्माण करता है जो किसी भी जीवन के रूप को पनपने नहीं देती है।बढ़ती मानव जनसंख्या प्रदूषण का एक मुख्य कारण है। बढ़ती आबादी के साथ संसाधनों की मांग और खपत में भी वृद्धि होती है एवं उनकी पूर्ती के लिए ज्यादा औद्योगीकरण, वनोन्मूलन एवं शहरीकरण की आवस्यकता होती है जो बदले में ज्यादा प्रदूषण करते हैं और पर्यावरणीय निम्नीकरण को जन्म देते हैं।

1.6 पर्यावरणीय निम्नीकरण के प्रभाव

पर्यावरणीय निम्नीकरण को आज विश्व के सभी प्राणियों के लिए सबसे बड़े खतरे के रूप में देखा जाता है।पर्यावरणीय निम्नीकरण के कई प्रभाव हैं जिनमे से मुख्य निम्न हैं:

1. मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव: आज दुनियां के कई शहर अनुमेय सीमा से अधिक प्रदूषित हो गए हैं एवं रहने के लिए अनुयोगी हो गए हैं।पानी और वायु प्रदूषण के कारण हर वर्ष पूरे विश्व में कई मौतें हो जाती हैं।शहरों में रहने वाले लोग श्वसन और श्रवण सम्बन्धी कई बीमारियों से ग्रषित हैं।इसी प्रकार कारखानों से निकलने वाली गन्दगीन दियों में प्रवाहित कर दी जाती है जो पानी से सम्बंधित कई बीमारियों को जन्म देती है।कुल मिलाकर, कारखानों, कृषि और वाहनों से विषाक्त अपशिष्ट और हानिकारक रसायन बच्चों और वयस्कों में बीमारियों और मृत्यु का कारण बनते हैं।

2. गरीबी और भुखमरी: गरीबी भोजन, आश्रय और कपड़ों जैसी किसी मूलभूत जरूरतों को पूरा करने में असमर्थता है।गरीबी भुखमरी को जन्म देती है औ र सतत विकास को बाधित करती है।कई अध्ययनों ने पुष्टि की है कि आर्थिक विकास पर्यावरण पर निर्भर करता है, इसके अतिरिक्त गरीब लोग अपनी कई मूल भूत सुविधाओं के लिए प्राकृतिक पर्यावरण पर निर्भर होते हैं।वे भोजन, आश्रय, कपड़ोंऔरयहांतककि अपनी औषिधियों और ईंधन (लकड़ी) के लिए भी पर्यावरण पर निर्भर करते हैं।यह प्राकृतिक वातावरण में गिरावट और विनाशका कारण बनता है।दूसरी तरफ, प्राकृतिक पर्यावरण के विनाश ने कई देशों में भूखमरी और कुपोषण को जन्म दिया है जिससे गरीबी दर बढ़ रही है।अपर्याप्त बुनियादी जीवित संसाधन और भोजन की गुणवत्ता की कमी क्षेत्रों में पर्यावरणीय निम्नीकरण का सीधा परिणाम है। विकासशील देशों में पानी की कमी, जलवायु परिवर्तन, औरखराबफसलपैदावारसेउत्पन्नअधिकांशव्याप्तियाँपर्यावरणनिम्नीकरणसेजुड़ीहुईहैं।इसलिए, पानी और भोजन जैसे पर्याप्त बुनियादी जरूरतों तक पहुंच की कमी सीधे गरीबी को प्रेरित करती है।इस प्रकार गरीबी और पर्यावरण निकटता से जुड़े हुए हैं और एक दूसरे को प्रभावित करता है, गरीबी पर्यावरण में गिरावट की ओर ले जाती है और पर्यावरणीय निम्नीकरण गरीबी की दर को बढ़ाता है।संक्षेप में, गरीबी पर्यावरणीय गिरावट का प्रमुख कारण है और जब पर्यावरण खराब हो जाता है, तो मनुष्य का जीवन और अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।

3. वायुमंडलीय परिवर्तन: पर्यावरणीय निम्नीकरण से कुछ प्राकृतिक प्रक्रियाओं जैसे जल चक्र और जन्तुवों और पौधों की सामान्य जीवन प्रक्रियाओं में बदलावआताहै। इसके अलावा, वनोन्मूलन और खनन जैसे पर्यावरणीय निम्नीकरण के पहलू प्राकृतिक भूमि को नष्ट कर अनुपयोगी बना देते हैं।यह, वायु, पानी और भूमि प्रदूषण के साथ-साथ कई वायुमंडलीय परिवर्तनों को जन्म देता है जो हानिकारक होते हैं।इन परिवर्तनों में ग्लोबल वार्मिंग और जलवायु परिवर्तन शामिल है।जलवायु परिवर्तन से प्राकृतिक आपदाओं का जोखिम बढ़ जाता है और ओजोन परत में कमी आती है। ओजोन पर जो पृथ्वी को हानिकारक परा बैंगनी किरणों से बचाने के लिए ज़िम्मेदार है, क्लोरो फ्लोरो कार्बन की उपस्थिति, वायुमंडल में हाइड्रोक्लोरो फ्लोरो कार्बन को ओजोन पर कम करने के लिए प्रेरित करती है।इस पर के

पतले होने से पृथ्वी पर हानिकारक विकिरण उत्सर्जित होते हैं जिससे त्वचा कैंसर, आंखों की बीमारियां और फसल की विफलता जैसी कई समस्याएं बढ़ जाती हैं।

4. जैव विविधता को नुकसान: वनोन्मूलन, ग्लोबलवार्मिंग, बढ़ती मानव जनसंख्याऔर प्रदूषण जैव विविधता के नुकसान के कुछ प्रमुख कारण हैं।पर्यावरणीय निम्नीकरण ने वनों का निरंत रविनाश सहित प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्रों को नुकसान पहुंचाया है जिसने वन्य प्रजातियों के बड़े पैमाने पर विलुप्त होने में भूमिका अदा की है।पौधेऔर पशु प्रजातियों का विलुप्त होने से संभावित रूप से नई दवाओं के विकास पर भी असर पड़ेगा; यह पारिस्थिति की तंत्र अनुकूलता को कम करेगा और आनुवांशिक संसाधनों के नुकसान को जन्म देगा।आज घट ते वन भूमि और प्रदूषण के कारण विश्व भर में लुप्त प्राय प्रजातियों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है, जबकि कई अन्य विलुप्त हो गए हैं।पर्यावरण का किसी भी जीव के जीवन पर सीधा प्रभाव होता है एवं उसे अपनी आवस्यकता के सारे संसाधन अपने पर्यावरण से ही प्राप्त होते हैं, इस प्रकार पर्यावरणीय निम्नीकरण जैव विविधता का समर्थन करने वाले प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र को नष्ट करने और प्राकृतिक प्रक्रिया को संयुक्त रूप से परिवर्तित करने का काम करता है जिससे जीवों के विलुप्त होने का खतरा बढ़ जाता है।

5. कृषि पर प्रभाव: पर्यावरण ग्रामीण किसानों को समुद्री कृषि, मिट्टी, जंगल, वनस्पति और जैव विविधता जैसे कृषि गतिविधियों के संसाधनों प्रदान करता है।पर्यावरणीय निम्नीकरण का सीधा प्रभाव जल स्त्रोतों, मिट्टी की उर्वरकता और उत्पादकता और फालसों की पोषक गुणवत्ता पर पढ़ता है। किसी भी पारितंत्र में परिवर्तन उसमे रहने वाले जीवो पर प्रभाव डालता है, जल वायु परिवर्तित होने से फसल चक्र में बदलाव आते हैं और फसल के तैयार होने के समय में बदलाव आ सकता है। जिसके परिणाम स्वरुप किसानो को गरीबी और कुपोषण जैसी स्थितियों का सामना करना पड़ सकता है एवं अन्य लोगों के लिए अनाज की उपलभ्धता में कमी आ सकती है।

6. प्राकृतिक संसाधनों की कमी: पर्यावरणीय निम्नीकरण के कुछ कारण जैसे प्रदूषण, वनोन्मूलन और प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक शोषण प्राकृतिक संसाधनों की मात्रा में कमी लाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप कुछ जीवन समर्थन सुविधावों जैसे कृषि भूमि, जल, आनुवांशिक संसाधन, औषधीय पौधों और खाद्य फसलों की उपलभ्धता कम हो जाती है।

7. आर्थिकप्रभाव: पर्यावरणीय निम्नीकरण के कारण किसी देश को जंगलों की बहाली, भू-भरणस्थलों की सफाई और लुप्त प्राय प्रजातियों की सुरक्षा के मामले में भारी लागत का सामना करना पड़ सकता है, जिस का उस देश की अर्थ व्यवस्था पर बड़ा आर्थिक प्रभाव हो सकता है। इससे पर्यटन उद्योग को भी नुकसान भुगतना पड़ता है जिससे पुनःआर्थिक नुकसान हो सकता है।प्रति व्यक्ति आय और पर्यावरणीय निम्नीकरण के बीच एक रिश्ता है, इसलिए, अंततः, विकास आर्थिक गतिविधि के पर्यावरणीय प्रभाव को कम कर देता है।आर्थिक प्रभाव पड़ने से देश के विकास और विकास कार्यों पर भी प्रभाव पड़ता है।

1.7 प्रदूषण

वायु, जल, भूमि और ऊर्जा समेत जीवन के लिए अनिवार्य पद्धतियों में मानव पारिस्थिकी का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है।जब तक प्रत्येक व्यक्ति या समूह के लिए पर्याप्त जगह उपलब्ध थी तब तक प्रदूषण एक गंभीर समस्या नहीं थी । किन्तु, बड़ी संख्या में लोगों द्वारा स्थायी बस्तियों की स्थापना के साथ, प्रदूषण एक समस्या बन गई, और यह तब से अब तक बनी हुई है।आज दुनियां के कई शहरअनुमेय सीमा से अधिक प्रदूषित हो गए हैं एवं रहने के लिए अनुयोगीहोगएहैं।पानी और वायु प्रदूषण के कारण हर वर्ष पूरे विश्व में कई मौतें हो जाती हैं।शहरों में रहने वाले लोग श्वसन और श्रवण सम्बन्धी कई बीमारियों से ग्रषितहैं।

प्रदूषण, जिसे पर्यावरणीय प्रदूषण भी कहा जाता है, पर्यावरण के किसी भी पदार्थ (ठोस, तरल, यागैस) याऊर्जाकेकिसीभीरूप (जैसे गर्मी, ध्वनि, या रेडियो धर्मिता) को अप्राकृतिक रूप से पर्यावरण में जोड़ने या अवांछनीय सामग्री की उपस्थिति से है, जिसे मन्द, समाप्त, कुछ हानिरहित रूप में विघटित/संग्रहीत या पुनर्नवीनीकरण नहीं किया जा सकता है।दूसरे शब्दों में, पर्यावरण में दूषक पदार्थों के प्रवेश के कारण प्राकृतिक संतुलन में पैदा होने वाले दोष को प्रदूषण कहते हैं।दूषितपदार्थोंकोसंयुक्तरूपसेप्रदूषक कहा जाता है क्योंकि वे प्राकृतिक वातावरण को दूषित और परिवर्तित करते हैं।

(क)वायु प्रदूषण

वायु प्रदूषण तब होता है जब गैसों, कणों और जैविक अणुओं सहित हानिकारक या अत्यधिक मात्रा में पदार्थ पृथ्वी के वायुमंडल में पुरःस्थापित किए जाते हैं।एक व्यापक अर्थ में, वायु प्रदूषण का अर्थ हवा में रसायनों या यौगिकों की मौजूदगी है जो आमतौर पर मौजूद नहीं होते हैं और जोहवा की गुणवत्ता को कम करते हैं या जीवन की गुणवत्ता में हानिकारक परिवर्तन का कारण बनते हैं और विभिन्न पर्यावरणीय समस्याओं जैसे ओजोन पर तकेनष्ट होने या ग्लोबल वार्मिंग का कारण बनते हैं।वायुमंडल में इन प्रदूषकों की उपस्थिति तत्कालया लम्बी समय अवधि में जीवन के लिए हानिकार कहो सकती है।इन पदार्थों या वायु प्रदूष कों में गैस, तरल बूंदें, और ठोस कण शामिल हैं। उन्हें उत्सर्जन के स्रोत के अनुसार दो मुख्य समूहों में वर्गीकृत किया जाताहै: प्राथमिकऔरमाध्यमिकप्रदूषक।

i. प्राथमिक प्रदूषक(PrimaryPollutant)**:** एक प्राथमिक प्रदूष क एक स्रोत से उत्सर्जित वायु प्रदूषक है जो सीधे वातावरण में उत्सर्जित होता है। स्रोतयातो प्राकृतिक प्रक्रिया हो सकता है जैसे कि तूफ़ान और ज्वालामुखीय विस्फोटया मानवजनित (मानव द्वारा प्रभावित) जैसे औद्योगिक और वाहन उत्सर्जन। प्राथमिक प्रदूषक के उदाहरण सल्फरडाइऑक्साइड (SO_2), कार्बन मोनो ऑक्साइड (NO_x), नाइट्रोजनऑक्साइड (NO_x), औरसूक्ष्म कण पदार्थ (Particulate matter) हैं।

ii. माध्यमिक प्रदूषक(Secondary Pollutant)**:** एक माध्यमिक प्रदूषक वायु मंडल में गठित वायु प्रदूषक है जो प्राथमिक प्रदूषकों के बीच या प्राथमिक प्रदूषक और अन्य वायुमंडलीय घटकों के बीच रासायनिकया शारीरिक प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप होता है। माध्यमिक प्रदूष ककेे प्रमुख उदाहरण फोटो कैमिकल ऑक्सीडेंट्स (ओजोन, नाइट्रोजन डाइ ऑक्साइड, सल्फर ट्राय ऑक्साइड) और माध्यमिक कण पदार्थ (Secondary Particulate Matter) शामिल हैं ।माध्यमिक प्रदूषक का सबसे बढ़िया उदाहरण वायुमंडल में प्रदूषण के कारण होने वाली अम्लीय वर्षा का निर्माण है। जीवाश्म ईंधन के जलने से सल्फर डाइ ऑक्साइड का निर्माण होता है।सल्फरडाइऑक्साइड वायुमंडल तक पहुंचता है, यह पहले सल्फेट आयन बनाने के लिए ऑक्सीकरण करता है।सल्फेट आयन हवा में हाइड्रोज़न परमाणुओं के साथ जुड़ता है और सल्फुरिक एसिड बन जाता है। यह फिर पृथ्वी पर वापस "अम्लीय वर्षा" के रूप में गिर जाता है।

S (कोयलेमें) + O_2 = SO_2

2 SO_2 + O_2 = 2 SO_3

SO_3 + H_2O = H_2SO_4 (अम्लीयवर्षा)

$4NO_2$ + O_2 + $2H_2O$ = $4HNO_3$ (अम्लीयवर्षा)

1. वायु प्रदूषण के कारण

ऐसी कोई भी प्रक्रिया जो ऐसे छोटे और हल्के पदार्थों को उत्पन्न करती है जो हवा में उड़ सकते हैं या स्वयं गैस होते हैं, वायु प्रदूषण में योगदान दे सकते हैं। वायु प्रदूषण प्राकृतिक या मानव निर्मित (मानवजनित) दोनों स्त्रोतों से हो सकता हैं।वायुप्रदूषणकेकुछसामान्यकारणनिम्नलिखितहैं:

I. प्राकृतिक कारण:

i. **ज्वालामुखीय गतिविधियां** - ज्वालामुखीय विस्फोट विषाक्त गैसों (जैसे सल्फर और क्लोरीन) के साथ-साथ कण पदार्थ (राख कण) की एक श्रृंखला उत्सर्जित करते हैं जो पर्यावरण को नुक्सान पहुंचाते हैं लेकिन आमतौर पर ये प्रभाव स्थानीयकृत क्षेत्रों तक सीमित होते हैं;
ii. **दावाग्नि** - वायुमंडल में कार्बन मोनोऑक्साइड, साथ ही कण पदार्थ भी जोड़ता है; महत्वपूर्ण क्षेत्रों को प्रभावित कर सकता है, हालांकि सामान्य रूप से वे प्रतिबंधित हैं और निहित हो सकते हैं;
iii. **रेडियोधर्मी क्षय प्रक्रियाएं** - उदाहरण के लिए, रेडॉन गैस पृथ्वी की परत की प्राकृतिक क्षय प्रक्रियाओं के कारण उत्सर्जित होती है, जिसमें भू-गृह जैसे संलग्न स्थानों में जमा होने की क्षमता होती है;
iv. **हवाएं और वायु धाराएं** - प्रदूषक को जमीन से एकत्रित कर सकते हैं और उन्हें बड़े क्षेत्रों में ले जा सकते हैं;

v. **सूक्ष्मजीवीय क्षय प्रक्रिया** - जीवित जीवों के प्राकृतिक क्षय प्रक्रियाओं के साथ-साथ पर्यावरणीय दूषित पदार्थों में किसी भी पर्यावरण में मौजूद सूक्ष्मजीवों की प्रमुख भूमिका है; इस गतिविधि के परिणामस्वरूप विशेष रूप से मीथेन गैस उत्सर्जित होती है;

vi. **तापमानवृद्धि** - प्रदूषित मिट्टी और पानी से हवा में वाष्पीकरण करने वाले प्रदूषकों की मात्रा में वृद्धि होती हैं।

II. मानवजनित कारण

i. **परिवहन-** कारों, विमानों और जहाजों जैसे परिवहन के सामान्य रूप आमतौर पर जीवाश्म ईंधन से ऊर्जा का उपयोग करने के लिए दहन का उपयोग करते हैं। दहन प्रक्रिया हवा में वायु प्रदूषकों जैसे कार्बन मोनोऑक्साइड, सल्फर ऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड और कण पदार्थ को उत्सर्जित करती है, और उन पदार्थों को भी उत्सर्जित करती है जो जल्दी से पर्यावरण में अभिक्रिया करके नाइट्रोजन ऑक्साइड और ओजोन बनाती हैं, जो महत्वपूर्ण वायु प्रदूषक हैं।

ii. **खनन और धातु प्रसंस्करण-** इस प्रक्रिया के दौरान विभिन्न प्रकार के धातुवों के सूक्ष्म कण पदार्थ हवा में उत्सर्जित होते हैं जो विभिन्न बिमारियों को जन्म देते हैं।

iii. **कृषि दुष्प्रभाव-** किसान खेतों को जोतने और फसल उत्पाद काटने के लिए जीवाश्म ईंधन द्वारा संचालित मशीनरी जैसे ट्रैक्टर और थ्रेशर का उपयोग करते हैं, और बड़ी मात्रा में पाले गए जानवर भी वायु प्रदूषण का उत्पादन करते हैं उदाहरण के लिए पशुओं की आंतों में मीथेन गैस (CH_4) उत्पन्न होती है जो जो ग्रीनहाउस प्रभाव में योगदान देती है और ग्लोबल वार्मिंग की बढाती है।

iv. **निर्माण और विध्वंस गतिविधियां-** निर्माण कार्यों और विध्वंश कार्यों के दौरान विभिन्न निर्माण सामग्रियाँ हवा में उड़ती हैं जो हवा को प्रदूषित करती हैं। विशेषतौर पर पुरानी इमारतों का विध्वंस है, जिसमें प्रिंटेड सर्किट बोर्ड (PCBs), पोलीब्रोमिनेटेड डाईफिनाइल इथर्स (PBDEs) औरएस्बेस्टोस जैसे प्रतिबंधित रसायनों की एक श्रृंखला हो सकती है।

v. **भू-भरण स्थल-** आमतौर पर भू-भरण स्थल में प्राकृतिक सूक्ष्म जीव क्षय गतिविधि की तीव्रता के कारण मीथेन उत्पन्न करती हैं;

vi. **विनिर्माण उद्योग-**विनिर्माण उद्योग हवा में बड़ी मात्रा में कार्बन मोनोऑक्साइड, हाइड्रोकार्बन, कार्बनिक यौगिकों और रसायनों को छोड़ देते हैं जो हवा की गुणवत्ता को कम करते हैं। विनिर्माण उद्योग पृथ्वी के हर कोने में उपस्थित हैं और ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जो इससे प्रभावित नहीं हुआ है। पेट्रोलियम रिफाइनरियां भी हाइड्रोकार्बन और अन्य विभिन्न प्रकार के रसायनों को हवा में छोड़ती हैं जो हवा को प्रदूषित करती हैं और भूमि प्रदूषण भी करती हैं।

vii. **घर के अंदर से वायु प्रदूषण-**घरेलू सफाई उत्पाद, पेंट सामग्रियाँ, तंबाकू का धुँआ, कीटनाशक, फ्रिज व वातानुकूलक (Air conditioner) से क्लोरो फ्लोरो कार्बन (CFCs),इमारत में उपयोग की जाने वाली सामग्री जैसे एस्बेस्टोस (Asbestos), फॉर्मल्डेहाइड (H-CHO) और सीसा धातु (Pb) कुछ उदाहरण है जो हवा में जहरीले रसायनों को उत्सर्जित करती है और वायु प्रदूषण का कारण बनती है।

viii. **युद्ध एवं अन्य सैन्य गतिविधियां-** युद्ध एवं अन्य सैन्य गतिविधियों में बड़ी मात्रा में गोले-बारूद का इस्तेमाल होता है और आधुनिक युद्धों में रसायनों का भी अत्यधिक उपयोग देखने को मिल रहा है जो वायु में अनेक जहरीले पदार्थो का उत्सर्जन करते हैं जो स्वास्थ्य और जीवन के लिए हानिकारक हो सकते हैं।

2. वायु प्रदूषण के प्रतिकूल प्रभाव

विश्व स्वाथ्य संगठन के अनुसार प्रत्येक वर्ष लगभग 24 लाख लोगों की प्रत्यक्ष रूप से वायु प्रदूषण के कारण मृत्यु हो जाती है।वायु प्रदूषण हमारे वातावरण तथा हमारे ऊपर अनेक प्रभाव डालता है।उनमें से कुछ निम्नलिखित है :

i. **श्वसन और हृदय की समस्याएं:** वायु प्रदूषण के प्रभाव खतरनाक होते हैं। वे कैंसर के साथ कई अन्य श्वसन और हृदय की बिमारियों के कारण के रूप में जाने जाते हैं। इससेदमा, सर्दी-खाँसी, अँधापन, श्रवका कमजोर होना, त्वचा रोग जैसी बीमारियाँ पैदा होती हैं। लंबे समय के बाद इससे जननिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और अपनी चरम सीमा पर यह घात कभी हो सकती है। वायु प्रदूषण के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभावों के कारण हरवर्ष पूरे विश्व में कई लाखों लोगों की मृत्यु हो जाती है।

ii. **ग्लोबल वार्मिंग:** वायु प्रदूषण का एक और तत्काल प्रत्यक्ष प्रभाव ग्लोबल वार्मिंग है। ग्लोबल वार्मिंग के कारण पृथ्वी का तापमान निरंतर बढ़ता जा रहा है जिसके कारण समुद्र के स्तर में वृद्धि और ठंडे क्षेत्रों और हिमशैलों से बर्फ की पिघलने की दर में बढ़ोतरी हुई है। इसके कारण कई अन्य समस्याएं जैसे जीवो का विलुप्त होना, विस्थापन और आवास के नुकसान जैसी समस्याओं को भी जन्म दिया है।

iii. **अम्लीय वर्षा:** जीवाश्म ईंधन के जलने के दौरान वायुमंडल में नाइट्रोजन ऑक्साइड और सल्फर ऑक्साइड जैसे हानिकारक गैसों को वायुमंडल में छोड़ दिया जाता है। जब बारिश होती है, तो पानी की बूंदें इन वायु प्रदूषकों के साथ मिलती हैं, अम्लीय हो जाती हैं और फिर जमीन पर अम्लीय वर्षा के रूप में गिरती हैं। अम्लीय वर्षा मानव, जानवरों और फसलों को बहुत नुकसान पहुंचा सकती है।

iv. **यूट्रोफिकेशन:** यूट्रोफिकेशन एक ऐसी स्थिति है जहां कुछ प्रदूषकों में मौजूद नाइट्रोजन की मात्रा पानी की सतह पर विकसित होती है और खुद को शैवाल में बदल देती है और मछली, पौधों और पशु प्रजातियों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। झीलों और तालाबों पर मौजूद हरा रंगीन शैवाल केवल इस रसायन की उपस्थिति के कारण है।

v. **वन्यजीवन पर प्रभाव:** मनुष्यों की तरह, जानवरों को भी वायु प्रदूषण के कुछ विनाशकारी प्रभावों का सामना करना पड़ता है। हवा में मौजूद जहरीले रसायन वन्यजीव प्रजातियों को नए स्थान पर जाने और अपने आवास को बदलने के लिए मजबूर कर सकते हैं। विषाक्त प्रदूषक पानी की सतह पर जमा होते हैं और समुद्री जानवरों को भी प्रभावित कर सकते हैं।

vi. **ओजोन परत का विघटन:** ओजोन पृथ्वी के समताप मंडल में मौजूद है और मनुष्यों को हानिकारक पराबैंगनी किरणों (Ultraviolet rays) से बचाने के लिए जिम्मेदार है। वायुमंडल में हाइड्रो क्लोरोफ्लोरोकार्बन, क्लोरोफ्लोरोकार्बन की उपस्थिति के कारण पृथ्वी की ओजोन परत कम हो रही है। चूंकि

ओजोन परत पतली हो जाएगी, यह पृथ्वी पर हानिकारक पराबैंगनी किरणों को वापस प्रतिबिंबित नहीं कर पायेगी और जीन अपरिवर्तन, अनुवाशंकीय, त्वचा कैंसर और आंख से संबंधित समस्याओं का कारण बन सकती है। पराबैंगनी किरणों में फसलों को प्रभावित करने की क्षमता भी होती है।

vii. **अन्य प्रभाव:** इन प्रभावों के अतिरिक्त वायु प्रदूषण भवनों, ऐतिहासिकइमारतोंऔर कलाकृतियों को भी क्षतिपहुँचता है तथा यह शहर की इमारतों को भी काला कर सकता है जिससे उस शहर की सौंदर्यता प्रभावित होती है। पेड़ के पत्तो पर भी धुल जमा हो जाता है जिससे पत्तो को प्रकाश संश्लेषण में परेशानी होती है।वायु प्रदूषण से सर्दियों में को हरा छाया रहता है, जिसका कारण धूएँ तथा मिट्टी के कणों का कोहरे में मिला होना है।इससे प्राकृतिक दृश्यता में कमी आती है तथा आँखों में जलन होती है औ रसाँस लेने में कठिनाई होती है।

3. वायु प्रदूषण नियंत्रण उपाय

वायु प्रदूषण पारिस्थितिक विविधता और पर्यावरणीय स्थिरता पर बहुत अधिक प्रभाव डालता है। वायु प्रदूषण के मानदंड प्रदूषकों में सूक्ष्म कण, कार्बन मोनोऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन डाइऑक्साइड, ओजोन और सीसा शामिल हैं तथा ग्रीनहाउस गैसों में कार्बन डाइऑक्साइड, क्लोरोफ्लोरोकार्बन (सीएफसी), मीथेन, नाइट्रस ऑक्साइड और ओजोन शामिल हैं। हमें इन सब प्रदूषकों के मानवीय स्त्रोतों पर विशेष ध्यान देने एवं इनके नियंत्रण हेतु सख्त कदम उठाने की आवस्यकता है।

वायु गुणवत्ता की रक्षा करने का सबसे अच्छा तरीका स्वच्छ ईंधन और प्रक्रियाओं को अपनाकर प्रदूषण के उत्सर्जन को कम करना है। हवा की गुणवत्ता को बनाए रखने के लिए पर्याप्त जंगल आवश्यक है। वनों एवं वनस्पतियों को संरक्षित किया जाना चाहिए। लोगों में वायु प्रदूषण के हानिकारक प्रभावों के प्रति जागरूक करने की आवस्यकता है एवं उन्हें वाहन साझा करने और छोटी दूरी के लिए वाहनों का प्रयोग न करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। औद्योगिक क्षेत्रों आवासीय क्षेत्रों से एक सुरक्षित दूरी पर स्थित होना चाहिए।

दावाग्नि की घटनावों में कमी हेतु पर्याप्त निवारक उपायों को अपनाया जाना चाहिए। वायु प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए सस्ता उपकरण विकसित किए जाने चाहिए। पूरे विश्व को साथ मिलकर वायु प्रदूषण के स्तर को नियंत्रित करने के प्रयासों में मदद देनी चाहिए। नए ऊर्जा स्रोतों की खोज करनी चाहिए ताकि जीवाश्म ईंधन को भविष्य के लिये संरक्षित किया जा सके।उद्योगों और कारखानों की स्थापना आवासीय क्षेत्रों से दूर होनी चाहिए, छोटे चिमनी के बजाय बड़ी चिमनियों का फ़िल्टर और इलेक्ट्रोस्टैटिक अवक्षेपक के साथ उपयोग करना चाहिए, उच्च तापमान की भस्मक का उपयोग, ऊर्जा के लिए गैर-दहनशील स्रोतों का उपयोग, गैसोलीन में सीसा मुक्त एंटीनॉकिंग एजेंटों के उपयोग को बढ़ावा देना चाहिए, वृक्षारोपण और अन्य सकारात्मक प्रयासों को बढ़ावा देना चाहिए। वायु प्रदूषण पर नियंत्रण हेतु सरकारी, गैर-सरकारी संगठनों और आम जनता के मध्य सामंजस्य होना आवश्यक है एवं इनके संयुक्त प्रयासों के माध्यम से ही वायु प्रदूषण पर नियंत्रण पाया जा सकता है।

(ख) जल प्रदूषण

पानी प्रकृति का सबसे बड़ा उपहार है।धरती का लगभग 70% हिस्सा पानी होने के साथ, यह निर्विवाद रूप से हमारे सबसे बड़े संसाधनों में से एक बन जाता है।बहते हुए प्लास्टिक के थैलों से लेकर रासायनिक अपशिष्ट तक कचरे ने हमारे जल निकायों को जहर के कुंड में बदल दिया है।जल प्रदूषण पृथ्वी पर एक निरंतर बढ़ती समस्या बन गया है जो सभी पहलुओं में मानव और पशु जीवन को प्रभावित कर रहा है। जल प्रदूषण मानव गतिविधियों द्वारा उत्पन्न जहरीले प्रदूषक द्वारा पेयजल या जल निकायों का प्रदूषण हैजो उन्हें जलीय जीवन के लिए तथा घरेलू और औद्योगिक उद्देश्यों के लिए अनुपयुक्त बनाते हैं । जल निकायों में झीलें, नदियाँ, महासागर, जलभृत और भूजल शामिल हैं। शहरी प्रवाह, कृषि, औद्योगिक, तलछट, भू-भरण स्थल, पशु अपशिष्ट, और अन्य मानव गतिविधियों के कई स्रोतों के माध्यम से पूरा पानी प्रदूषित हो रहा है। सभी प्रदूषक पर्यावरण के लिए बहुत हानिकारक हैं। मानव आबादी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है और इस प्रकार उनकी जरूरतों और प्रतिस्पर्धा प्रमुख स्तर पर प्रदूषण का नेतृत्व करती है।

जलीय पारिस्थितिक तंत्र में प्राकृतिक जीवन चक्र आमतौर पर जल निकायों की आत्म सफाई सुनिश्चित करते हैं। एरोबिक बैक्टीरिया पानी में ऑक्सीजन का उपयोग करके पानी में उपलब्ध जहरीले अपशिष्टों को छोटे यौगिकों में तोड़ देते हैं। अंत में ये उत्पाद (नाइट्रेट्स और फॉस्फेट) शैवाल और हरे पौधों के लिए पोषण के रूप में उपयोग किए जाते हैं जो पानी में रहते हैं। चूंकि भोजन चक्र चलता रहता है, फिर इन्हें प्लैंकटन, छोटी मछली, बड़ी मछली और कभी-कभी मनुष्यों द्वारा भी खाया जाता है।किन्तु जब जल प्रणाली में प्रवेश करने वाले अपशिष्ट उत्पादों की मात्रा आत्म सफाई करने की क्षमता से अधिक हो जाती है तब जल प्रदूषित कहलाता है।

1.जल प्रदूषण के प्रकार

एक अनुमान के मुताबिक पूरे विश्व मेंहर वर्ष लगभग 8 लाख लोगों की प्रत्यक्ष रूप से पानी से जुड़ी हुई बीमारियों के कारण मौत हो जाती है।जल प्रदूषण कई प्रकार के होते हैं क्योंकि पानी कई स्रोतों से आता है। कुछ मुख्य प्रकार के जल प्रदूषण निम्न हैं:

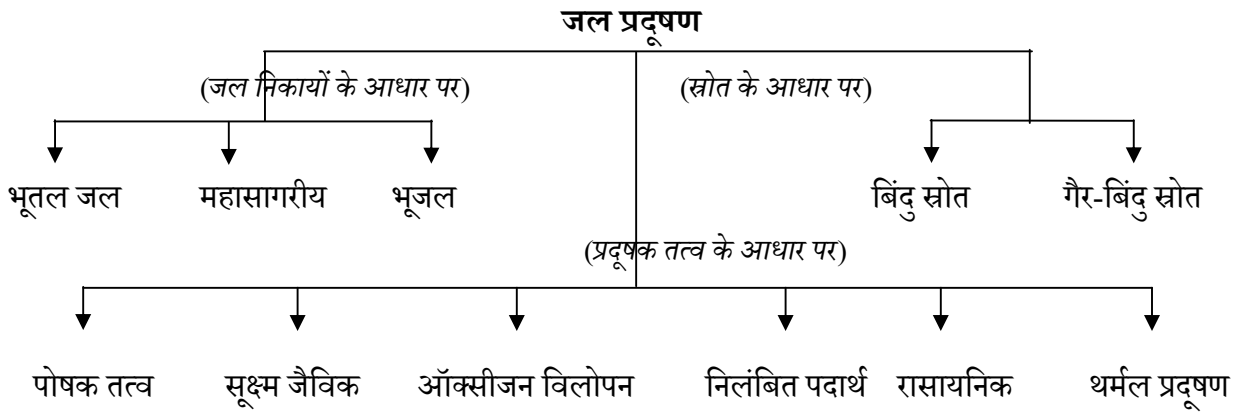

जल प्रदूषण के विभिन्न वर्गीकरण हैं।

जल निकायों के आधार परजल प्रदूषणका वर्गीकरण

i. **भूतल जल प्रदूषण:** भूतल जल प्रदूषण प्रदूषण का सबसे दृश्यमान रूप है और हम इसे झीलों, धाराओं और महासागरों में अपने पानी पर तैरते देख सकते हैं। पानी की बोतलों, प्लास्टिक और अन्य अपशिष्ट उत्पादों जैसे मानव उपभोग से कचरा, अक्सर पानी की सतहों पर स्पष्ट होता है। इस प्रकार का प्रदूषण तेल फैलाव और गैसोलीन अपशिष्ट से भी आता है, जो सतह पर तैरता है तथा पानी और उसमें रहने वाले जीवों को प्रभावित करता है। पानी प्रदूषकों में जहरीले रसायनों, मीथेन, बेंजीन और विकिरण की एक श्रृंखला भी शामिल है।
ii. **महासागरीय प्रदूषण:** पिछले कुछ दशकों में, मानव गतिविधियों ने पृथ्वी के महासागरों पर समुद्री जीवन को गंभीर रूप से प्रभावित किया है।महासागरीय प्रदूषण, जिसे समुद्री प्रदूषण भी कहा जाता है, समुद्र में प्लास्टिक, औद्योगिक, कृषि और कृषि अपशिष्ट और रासायनिक कण या आक्रामक जीवों जैसे हानिकारक पदार्थों का फैलाव है।
iii. **भूजल प्रदूषण:**इस प्रकार का प्रदूषण अधिक से अधिक प्रासंगिक हो रहा है क्योंकि यह हमारे पीने के पानी और मिट्टी के नीचे जलीय जल को प्रभावित करता है। भूजल प्रदूषण आमतौर पर खेती से अत्यधिक जहरीले रसायनों और कीटनाशकों का जमीन के माध्यम से रिसाव करने के कारण होता है जो सतह के नीचे कुएं और जलभृत को दूषित करते हैं।

स्रोत के आधार पर जल प्रदूषणका वर्गीकरण

i. **बिंदु स्रोत जल प्रदूषण:**बिंदु स्रोत जल प्रदूषण तब होता है जब प्रदूषक एक विशेष स्रोत से जल के स्रोत में प्रवेश करते हैं। बिंदु स्रोत जल प्रदूषण का एक मुख्य उदाहरण कारखानों से पानी का उत्सर्जन है।
ii. **गैर-बिंदुजल प्रदूषण:**गैर-बिंदु स्रोत दूषित पदार्थों की विभिन्न मात्रा के संचयी प्रभाव के परिणामस्वरूप होता है। गैर-बिंदु स्रोत जल प्रदूषण का उदाहरण बारिश का पानी हो सकता है जो कई क्षेत्रों से होते हुए कई प्रदूषकों को एकत्रित करता है।

प्रदूषक तत्व के आधार पर जल प्रदूषणका वर्गीकरण

i. **पोषक तत्वप्रदूषण:**कुछ अपशिष्टों में जैसे मल और कृषि रसायन जैसे उर्वरक में पोषक तत्वों की अत्यधिक मात्रा होती है जो कुछ वनस्पतियां जैसे खरपतवार और शैवाल बहुत तेज और बहुत बड़ी मात्रा में बढ़ने लगते हैं। इन वनस्पतियों को तब सामान्य से अधिक ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है, और ये पानी में अधिक ऑक्सीजन का उपयोग करते है, जिससे जलीय जीवन के अन्य जीवों हेतु ऑक्सीजन की मात्रा में कमी आ जाती है। यह जलीय आवास को नष्ट कर सकता है, और इस पानी के उपयोग हेतु अनुपयुक्त बना सकता है।

ii. **सूक्ष्म जैविक प्रदूषण जल:**यह सूक्ष्मजीवों के कारण प्रदूषण का एक प्राकृतिक रूप है।इनमें से अधिकांश सूक्ष्मजीव पानी में बढ़ते हैं और अधिकतर जीव हानिरहित हैं, लेकिन कुछ बैक्टीरिया, वायरस और प्रोटोजोआ गंभीर रोगों जैसे हैज़ा और टाइफोइड (आंत्र ज्वर) का कारण बन सकते हैं।यह तीसरी दुनिया के उन लोगों के लिए एक महत्वपूर्ण समस्या है जिनके पास जल शोधन करने की सुविधाएं नहीं हैं या/ और कोई स्वच्छ पेयजल के स्रोत उब्लब्ध नहीं हैं।

iii. **ऑक्सीजन विलोपनप्रदूषण:**सूक्ष्मजीव जो जैव अपघटन योग्य पदार्थों पर अपने भोजन के लिए निर्भर होते हैं पानी में ऐसे पदार्थों की मात्रा बढ़ने पर इनकी संख्या अत्यधिक हो जाती है और वे सभी उपलब्ध ऑक्सीजन का उपयोग करके उसे समाप्त कर देते हैं जिससे पानी में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप एनारोबिक जीवों के विकसित होने की दर बढ़ जाती है। एनारोबिक जीवों की बढ़ती संख्या के साथ समस्या यह है कि ये अत्यधिक खतरनाक विषैले पदार्थ पैदा करते हैं, उदाहरण के लिए अमोनिया और सल्फाइड।

iv. **निलंबित पदार्थप्रदूषण:**जब पानी में मौजूद किसी पदार्थ के अणु (पदार्थ, कण और रसायन)बहुत बड़े होते हैं, और वे पानी में नहीं घुलते, उन्हें निलंबित कण पदार्थ के रूप में जाना जाता है, और इससे जल प्रदूषण हो सकता है। निलंबित पदार्थ पानी के तलहटी पर बैठ जाते हैं और तल पर एक मोटी गाद की परत बनाते हैं, जो नदियों और झीलों के तल पर समुद्री जीवन को नुकसान पहुंचाता है। पानी में निलंबित अपघटन योग्य पदार्थ एनारोबिक सूक्ष्मजीवों में तेजी से वृद्धि का कारण भी बनते हैं, जिसके कारण जलीय जीवों के परिवास को नुकसान होता है।

v. **रासायनिकप्रदूषण:**इन दिनों उद्योगों और औद्योगिक संयंत्रों में बड़े पैमाने पर रासायनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है और अवशिष्ट को समीप की नदियों या जल निकायों में छोड़ दिया जाता है, तथा कृषि में भी विभिन्न प्रकार के रसायनों का उपयोग उर्वरक या कीटनाशकों के रूप में किया जाता है जो वर्ष के माध्यम से नदियों और जल स्रोतों में पहुँचता है। पानी में ये प्रदूषक जलीय जीवों जैसे मछली और जलीय कीटों के लिए हानिकारक होते हैं और कई संक्रमण उत्पन्न करते हैं।यदि पक्षी या इंसान इन संक्रमित मछली को खाते हैं, तो विषाक्त पदार्थ उनमें स्थानांतरित हो जाते हैं और उनके स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार पेट्रोलियम एक अलग प्रकार का रासायनिक प्रदूषक है जो जलीय जीवन को प्रभावित करता है। यह तेल मछली और समुद्री जीवन को मारता है और पक्षियों के पंखों पर चिपक जाता है, जिससे उनकी उड़ान भरने की क्षमता प्रभावित होती है।

vi. **थर्मल प्रदूषण:** थर्मल प्रदूषण मानव प्रभाव के कारण पानी के प्राकृतिक शरीर के तापमान में वृद्धि या गिरावट है। रासायनिक प्रदूषण के विपरीत, थर्मल प्रदूषण, पानी के भौतिक गुणों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप होता है।

2. जल प्रदूषण के कारण

वायु प्रदूषण के बाद पानी को दूसरा सबसे प्रदूषित पर्यावरणीय संसाधन माना जाता है।जल प्रदूषण के कारण अलग-अलग होते हैं और प्राकृतिक और मानव दोनों ही हो सकते हैं। हालांकि, जल प्रदूषण के सबसे आम कारण मानवजनित हैं, जिनमें निम्न शामिल हैं:

i. **औद्योगिक अपशिष्ट:** उद्योग और औद्योगिक इकाइयां भारी मात्रा में अपशिष्ट उत्पन्न करते हैं जिसमें जहरीले रसायनों और प्रदूषक होते हैं। कई उद्योगों में उचित अपशिष्ट प्रबंधन प्रणाली नहीं होती है और नदियों, नहरों और बाद में समुद्र में जाने वाले ताजे पानी में अपशिष्ट को निकाला जाता है जो जल प्रदूषण का कारण बनते हैं और हमारे पर्यावरण और हमारे स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचा सकते हैं। उनमें कई प्रदूषक होते हैं जैसे पारा, शीशा, एस्बेस्टोस, सल्फर, नाइट्रेट्स और कई अन्य हानिकारक रसायन। विषाक्त रसायनों के कारण पानी का रंग बदल जाता है और विभिन्न खनिजों की मात्रा में वृद्धि हो जाती है जो इसे उपयोग हेतु अनुपयुक्त बना देता है और कई बीमारियों जैसे विभिन्न प्रकार के कैंसर और पाचन सम्बन्धी बीमारियों का कारण बनता है तथा यह पानी के जीवों के लिए भी एक गंभीर खतरा होता है।जैविक ऑक्सीजन की मांग जिसे आम भाषा में बीओडी (BOD-Biological Oxygen Demand) भी कहते हैं सीवेज में कार्बनिक पदार्थों को विघटित करने के लिए सूक्ष्म जीवों द्वारा आवश्यक ऑक्सीजन की मात्रा है। बीओडी जितना अधिक होगा, सीवेज में उतना ही अधिक कार्बनिक पदार्थ होगा। इस तरह बीओडी सीवेज में कार्बनिक पदार्थों को मापने का एक उपाय है। औद्योगिक सीवेज के बीओडी स्तर घरेलू सीवेज की तुलना में कई गुना अधिक होता हैं।

ii. **सीवेज और अपशिष्ट जल:** विकसित देशों के बड़े शहरों में सीवेज और अपशिष्ट जल का रासायनिक उपचार (जल शोधन) किया जाता है और ताजे पानी के साथ समुद्र में छोड़ दिया जाता है। जल शोधन के उपरांत भी यह पानी साफ़ पानी जैसा नहीं हो पाता है, तथा इस सीवेज पानी में कई हानिकारक बैक्टीरिया और रसायन होते हैं जो गंभीर स्वास्थ्य समस्याओं का कारण बन सकते हैं। विकासशील देशों में, कई लोगों में अभी भी स्वच्छ पानी और बुनियादी स्वच्छता (स्वच्छ शौचालय सुविधाएं) की कमी है। जिसके फलस्वरूप जल प्रदूषण उत्पन्न होता है। अपशिष्ट पानी में सूक्ष्मजीव कुछ बहुत घातक बीमारियों के कारण होते हैं और यह जल निकाय अन्य घातक प्राणियों के लिए प्रजनन के मैदान बन जाते हैं और पानी का धाराप्रवाह उनके विस्तारण में उनकी मदद करता है। सीवेज और अपशिष्ट जल के कारण जलजनित रोगों के कुछ उदाहरण हैंमलेरिया, हैज़ा, हेपेटाइटिस ए, डेंगू बुखारऔरआंत्र ज्वर।

iii. **कृषि उपक्रम:** वर्षा का पानी झीलों, नदियों, तालाबों जैसे जल निकायों में कृषि सम्बन्धी रसायनों जैसे उर्वरकों (Fertilizers), कीटनाशकों (Pesticides/Insecticides)एवं शाकनाशकों (Herbicides) और अन्य प्रदूषक तत्वों को पहुंचाता है। इस प्रकार के प्रदूषण के सामान्य प्रभाव में प्रभावित जल निकायों में शैवाल (Algae)बढ़ जाते हैं। इस पूरी प्रक्रिया को सुपोषण (Eutrophication) के नाम से जाना जाता हैं। यह पानी में कई हानिकारक तत्वों जैसे नाइट्रेट्स और फॉस्फेट के बढ़ने का संकेत होता है जो मानव स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो सकता है।सीवेज और उर्वरक मिलकर शैवाल या प्लैंकटन के विकास में भारी वृद्धि कर सकते हैं जो महासागरों, झीलों या नदियों के विशाल क्षेत्रों को प्रभावित करता है।

iv. **समुद्र में कचरे का निस्तारण:** विश्व के कुछ देशों में घरों से एकत्रित कागज, एल्यूमीनियम, रबड़, कांच, प्लास्टिक, भोजन आदि के रूप में कचरा समुद्र में फेंक दिया जाता हैं। इन वस्तुओं को विघटन होने में 2 सप्ताह से 200 साल तक लगते हैं। जब ऐसी वस्तुएं समुद्र में प्रवेश करती हैं, तो वे न केवल जल प्रदूषण का कारण बनती हैं बल्कि समुद्री जानवरों को भी नुकसान पहुंचाती हैं एवं उनके परिवास को हानि पहुंचाती हैं।

v. **तेल रिसाव:** तेल की ढुलाई ज्यादातर देशों में समुद्र के माध्यम से होती हैं। बड़े-बड़े जहाजों में यह तेल टैंकरों के माध्यम से भेजा और मंगाया जाता हैं। कई बार ये टैंकर रिसाव करते हैं या जहाज समुद्र में दुर्घटनग्रस्त हो जाते हैं जिसके कारण बड़ी मात्रा में यह तेल पूरे समुद्र में फ़ैल जाता हैं और पानी के ऊपर एक परत बना देता हैं। यह एक बड़ी समस्या बन जाता हैं और मछली, पक्षियों और समुद्री ऊदबिलाव जैसे स्थानीय समुद्री वन्यजीवन के लिए जानलेवा खतरा बन जाता है।

vi. **ईंधन उत्सर्जन:** जीवाश्म ईंधन जैसे कोयले और तेल को जलाने पर राख उत्पन्न होती हैं जो वायुमंडल में पानी के वाष्प के साथ मिश्रित होने पर जहरीले रसायनों वाले कणों का निर्माण करते हैं और अम्लीय वर्षा के लिए उत्तरदायी होते हैं।

vii. **खनन:** खनन प्रक्रियाओं में उपयोग किए जाने वाले खतरनाक रसायनों को नदियों और झीलों में छोड़ दिया जाता है जिसका पानी पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। भारी धातुओं और कई अन्य हानिकारक यौगिकों जैसे सल्फर यौगिक जो जमीन के अंदर होते हैं, खनन के माध्यम से सतह पर आ जाते हैं और पानी में वर्षा के माध्यम से या अपशिष्ट के साथ मिल जाते हैं। इसका एक उदाहरण साइनाइड हैं जिसका प्रयोग रासायनिक रूप से अयस्क से सोने को निकालने के लिए किया जाता है, अंत में जब सोना प्राप्त हो जाता हैं तो इसे एक अवशिष्ट के रूप में पानी में बहा दिया जाता है।

viii. **अन्य कारण:** इन सब कारणों के अतिरिक्त भी जल प्रदूषण के कई अन्य कारण हो सकते हैं जैसे परमाणु ऊर्जा संयंत्र सहित विभिन्न ऊर्जा स्रोत, गैस रिसाव, प्लास्टिक, निर्माण गतिविधियां, आर्द्रभूमि में कटौती, नदियों पर बांध, वनोन्मूलन, शहरीकरण, सेप्टिक टैंक,पशु अपशिष्ट, लीक सीवर लाइन और यहां तक कि आवासीय स्थितियों में भी छोटे रासायनिक रिसाव से जल प्रदूषण फैल सकता है।

3. जल प्रदूषण नियंत्रण उपाय

पानी हमारे ग्रह पर एक मूल्यवान संसाधन है। यह हमारे जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं, और ग्रह का कोई भी जीव इसके बिना जीवित नहीं रह सकता है।जल प्रदूषण में हमारे ग्रह पर काफी हद तक जीवन को बाधित करने की क्षमता है। जल प्रदूषण वास्तव में एक बहुत ही गंभीर चिंता है क्योंकि इसका न केवल स्वास्थ्य पर असर पड़ता है बल्कि विभिन्न उद्योगों और कृषि पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। ज्ञान, विचार और तैयारी के साथ, व्यक्तिगत और सामूहिक उत्तरदायित्व के माध्यम से जल प्रदूषण के उपरोक्त सभी कारणों को काफी कम किया जा सकता है। हमें अपने स्थानीय जल संसाधनों से परिचित होना चाहिए और हानिकारक घरेलू अपशिष्टों को उसमे डालने से बचना

चाहिए। इसके अतिरिक्त, हम मानव और जलीय जीवन के साथ संपूर्ण पारिस्थितिकी तंत्र को संरक्षित करने के लिए, अपने सभी अपशिष्ट उत्पादों का निस्तारण करने के सुरक्षित तरीकों की तलाश कर सकते हैं।

वायु प्रदूषण से बचने के लिए लोगों के पहले इसके हानिकारक प्रभावों के प्रति जागरूक होना पड़ेगा इसके लिए उनका क्षिक्षित होना आवश्यक है। इसके साथ ही, लोगों को नदी के पानी में कचरे फेंकने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। ज्यादा से ज्यादा भूमि पर वनीकरण करना चाहिए ताकि इसके वृक्ष हवा को साफ़ कर सकें। वृक्ष मृदा अपरदन को भी रोकते हैं । जीवाश्म ईंधन के प्रयोग में कमी लाने की आवस्यकता है साथ में हमें ऐसे स्वच्छ ईंधन की तलाश करनी चाहिए जो पर्यावरण को कम नुकसान पहुंचाएं। अक्षय ऊर्जा के स्रोतों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए एवं प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। प्लास्टिक एवं उससे सम्बंधित वस्तुवों के उत्पादन एवं उपयोग को कम करना चाहिए, औद्योगिक इकाइयों एवं शहरों से निकलने वाले अपशिष्टों के उचित प्रसंस्करण की व्यवस्था सुनिश्चित करनी चाहिए, कृषि गतिविधियों में हानिकारक रसायन जैसे कीटनाशकों और उर्वरकों के उपयोग को कम करना चाहिए एवं जैविक खेती को और कार्बनिक खाद्य पदार्थों के उत्पादन को बढ़ावा देना चाहिए।प्रदूषण से संबंधित नियमों और कानूनों का सख्ती से पालन किया जाना चाहिए। लोगों को अवगत कराया जाना चाहिए कि जल कानूनों का पालन करना उनके हित में है।

(ख)ध्वनि प्रदूषण

ध्वनि की अधिकता के कारण भी प्रदूषण होता है, जिसे हम ध्वनि प्रदूषण के रूप में जानते हैं। ध्वनि प्रदूषण का साधारण अर्थ है अवांछित ध्वनि जिससे हम चिड़चिड़ापन महसूस करते हैं।ध्वनि प्रदूषण के कुछ कारणों में रेलइंजन, हवाईजहाज, जनरेटर, टेलीफोन, टेलीविजन, वाहन, लाउडस्पीकरआदिआधुनिकमशीनेंमुख्य हैं। लंबे समय तक ध्वनि प्रदूषण के प्रभाव से श्रवण शक्ति का कमजोर होना, सिरदर्द, चिड़चिड़ापन, उच्च रक्तचाप अथवा स्नायविक, मनोवैज्ञानिक दोष उत्पन्न होने लगते हैं तथा इसके प्रभाव से स्वाभाविक परेशानियाँ बढ़ जातीहैं।

1. ध्वनिप्रदूषण के कारण

शोर प्रदूषण आधुनिक समय की एक बड़ी समस्या बन गया है। शहरीकरण में वृद्धि, परिवहन (रेल, वायु, और सड़क) और खनन के कारण, शोर प्रदूषण की समस्या कई स्थानों पर गंभीर स्तर पर पहुँच गयी है। वस्तुतः, शोर विकास और उन्नति की एक अनिवार्य बुराई बन गया है।ध्वनि प्रदूषण के मुख्य स्रोत निम्न हैं:

i. **औद्योगिक संयंत्र और मशीनरी:** लगभग सभी औद्योगिक क्षेत्र शोर प्रदूषण से प्रभावित होते हैं और इसके लिए एक प्रमुख कारण मशीनों द्वारा उत्पन्न ध्वनि है। उदाहरण के लिए थर्मल पावर प्लांट्स में स्थापित बॉयलर और टरबाइन अपने आसपास के इलाकों में काफी शोर पैदा करते हैं। अधिकांश उद्योग शहरी क्षेत्रों में स्थापित किए जाते हैं, जहां शोर प्रदूषण की उच्च तीव्रता होती है।

ii. **निर्माण कार्य स्थल:** खनन, भवनों, स्टेशनों, सड़कों, फ्लाईओवर पुलों, बांधों आदि जैसे निर्माणाधीन गतिविधियांमें विभिन्न प्रकार की मशीनों और औजारों का उपयोग किया जाता है जो शोर प्रदूषण में वृद्धि करता है जो निर्माण श्रमिकों के स्वास्थ्य के साथ-साथ आसपास के लोगों के स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव भी डालता है।

iii. **मनोरंजन:** मनोरंजन के अनेक साधन टीवी, रेडियो, कैसेट प्लेयर द्वारा भी बेबुनियाद शोर होता विवाह के कार्यक्रमों, संगीत कार्यक्रमों, धार्मिक स्थलों एवं अनुष्ठानों आदि में लाउडस्पीकर या डीजे का इस्तेमाल होता है, जो शोर प्रदूषण की मात्रा बढ़ा देते हैं तथा मनुष्य की श्रवण सकती को कमजोर कर देते हैं।इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रर्दशनों में भीलाउडस्पीकरों का इस्तेमाल किया जाता है जो ध्वनि प्रदूषण उत्पन्न करता है।

iv. **घरेलु उपकरण:** पानी का पंप, कपड़े धोने की मशीन, मिक्सर, ग्राइंडर, जूसर, जनरेटर, एयर कंडीशनर, सिलाई मशीन, वैक्यूम क्लीनर, टेलीविजन, रेडियो, संगीत प्रणाली, संगीत वाद्ययंत्रऔर टेलीफोन जैसे दैनिक उपयोग में आने वाले उपकरण शोर प्रदूषण के स्रोत भी हैं।

v. **परिवहन:** चार प्रकार के परिवहन व्यवस्था सड़क मार्ग, रेलवे, वायुमार्ग और जलमार्ग हैं।

   क. सड़क मार्ग: वाहनों से अत्यधिक शोर प्रदूषण होता है, यातायात जाम में, हॉर्न से अत्यधिक ध्वनि प्रदूषण होता है जो सड़क पर चलने वाले लोगों को परेशान करता है।इसके साथ ही वाहनों के मरम्मत की दुकानों से भी बहुत शोर उत्पन्न होता है।

   ख. रेलवे: स्टेशनों से गुजरने वाली ट्रेनों से हॉर्न इतने जोरदार होते हैं की वो दूर तक सुनाई देते हैं और अचानकबजने से किसी को भी विचिलित कर सकते हैं।

   ग. वायुमार्ग: हवाईजहाज के हवाईअड्डे से उड़ान भरने एवं उतरने पर बहुत शोर उत्पन्न होता है, ध्वनि की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि इससे शोर प्रदूषण भी पैदा होता है।

   घ. जलमार्ग: समुद्र और महासागरों में जहाजों में बड़ी मशीनरी होती है जिससे वे बहुत शोर पैदा करते हैं।

vi. **रक्षा उपकरण:** टैंक, विस्फोटक, सैन्य हवाई जहाज, निशानेबाज़ी का अभ्यास, तोपखाने, रॉकेट लांचरों, जेट विमानों आदि जैसे रक्षा उपकरणों द्वारा बहुत जोरदार शोर उत्पन्न होता है तथा ये उपकरण वातावरण में बहुत ध्वनि प्रदूषण जोड़ते हैं।

vii. **अलार्म प्रणाली:** वीआईपी वाहन, एम्बुलेंस और फायर ब्रिगेड में अलार्म प्रणाली का उपयोग किया जाता है, यह शोर प्रदूषण में भी योगदान देता है। आज कल वाहनों विशेषतः कारों में चोरी से सुरक्षा हेतु अलार्म का भी इस्तेमाल किया जाता है जो कई बार लोगों की परेशानी का कारण बन जाता है।

viii. **कार्यालय उपकरण:** कार्यालयों में, विभिन्न प्रकार के उपकरणों का उपयोग किया जाता है। कार्यालय के कई उपकरण शोर करते हैं। कागज काटने के लिए पेपर श्रेडर का उपयोग किया जाता है। प्रिंटर्स का व्यापक रूप से ग्रंथों और चित्रों के मुद्रण के लिए उपयोग किया जाता है। टाइपराइटर, टाइपिंग के लिए प्रयोग किया जाता है। फैक्स मशीनों का उपयोग दूरसंचार लाइनों के माध्यम से स्कैन किए गए ग्रंथों या छवियों को भेजने

या प्राप्त करने के लिए किया जाता है। फोन बजते रहते हैं। और लोग व्यापार भागीदारों और फोन पर ग्राहकों से बात करते रहते हैं। जब दरवाजे खोले और बंद किये जाते हैं, तो यह शोर उत्पन्न करते हैं।

ix. ***पटाखे*:** हमारे देश में विभिन्न अवसरों एवं प्रदर्शनों पर आतिशबाजी की जाती है जो ध्वनि प्रदूषण का स्रोत है। विभिन्न मेले, त्यौहार, और सांस्कृतिक / विवाह समारोहों के दौरान आतिशबाजी एक आम वस्तु है। लेकिन इन आतिशबाजी के कारण वायु प्रदूषण के अलावा, उनकी आवाज की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि इससे शोर प्रदूषण जैसी समस्याओं में वृद्धि होती है। दीपावली के दौरान, आतिशबाजी के कारण शहरों में कई बार ध्वनि प्रदूषण का स्तर बढ़ जाता है। चूंकि पटाखों से तय मानकों से ज्यादा आवाज उत्पन्न होती है, कई लोगों के कानों में सुनने की क्षमता को नुकसान होता है और हवा में बारूद की महक फ़ैल जाती है।

2. ध्वनि प्रदूषण के प्रतिकूल प्रभाव

ध्वनि प्रदूषण दोनों स्वास्थ्य और व्यवहार को प्रभावित करता है।अनचाही ध्वनि (शोर) मनोवैज्ञानिक और शारीरिक स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचा सकता है।ध्वनि प्रदूषण के कुछ मुख्य प्रतिकूल प्रभाव निम्न हैं:

i. **मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव:** शोर के मानव स्वास्थ्य और व्यवहार पर नकारात्मक असर पड़ते हैं। अनचाही आवाज शारीरिक और मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचा सकती है। ध्वनि प्रदूषण चिढचिढ़ापन, आक्रामकता, उच्च रक्तचाप, उच्च तनाव के स्तर, श्रवण हानि, टिनिटस (कोई बाहरी ध्वनि मौजूद नहीं होने पर भी ध्वनि का सुनाई देना), नींद में गड़बड़ी, बेचैनी, घबराहट और अन्य हानिकारक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। नींद न आने कारण सिरदर्द और थकान हो सकती है। ध्वनि प्रदूषण के तनाव और उच्च रक्तचाप प्रमुख स्वास्थ्य समस्याएं हैं, जबकि टिनिटस स्मृति हानि, गंभीर अवसाद और कभी-कभी व्यग्रता को जन्म दे सकता है।

ii. **श्रवण हानि:** निरंतर और मध्यम से ज़ोरदार ध्वनि प्रदूषण के संपर्क में रहने वाले लोगो की श्रवण शक्ति का धीरे-धीरे नुकसान हो जाता है जिसका पता बहुत बाद में चलता है जब सुनने की क्षमता बहुत कम हो जाती है। लेकिन एक विस्फोट जैसे एक छोटे से पल के लिए भी अचानक बहुत जोर से ध्वनि के संपर्क में अस्थायी या स्थायी क्षति हो सकती है। अचानक जोरदार आवाज के संपर्क में आने से एक या दोनों कान प्रभावित हो सकते हैं। शोर प्रदूषण सभी आयु समूहों को प्रभावित कर सकता है।विभिन्न प्रयोगों के आधार पर, यह दिखाया गया है कि जब ध्वनि की तीव्रता 90 dB (डेसीबल-ध्वनि मापने की इकाई) से अधिक हो जाती है, तो यह अलग-अलग डिग्री की हानि करता है। श्रवण हानि विभिन्न कारकों पर आधारित है, उनमें शोर से प्रेरित होना उल्लेखनीय है क्योंकि शोर का सामना करने की व्यक्तिगत संवेदनशीलता की भी सीमा होती है।

iii. **अन्य प्रतिकूल प्रभाव:** शोर प्रदूषण का उच्च स्तर मनुष्यों में कई प्रकार के व्यवहारिक परिवर्तनों का कारण बनता है। लंबी अवधि के शोर प्रदूषण के एक्सपोजर के परिणामस्वरूप मानसिक विकार, तनाव और

मांसपेशियों में तनाव और नसों में उत्तेजना हो सकती है। शोर प्रदूषण से जीवन और पेशे में उत्साह की सामान्य कमी भी होती है।

उच्च शोर का स्तर कई दिल की बीमारियों को भी जन्म दे सकते हैं। शोर भरे वातावरण में रहने से तनाव के स्तर में कई गुना बढ़ोतरी के साथ पांच से दस गुना रक्तचाप में वृद्धि हो सकती है। ये सभी कारक उच्च रक्तचाप के साथ-साथ परिहृद्-धमनी रोग का कारण बनते हैं। असहनीय शोर के कारण, मनुष्य चिंता, हृदय रोग, नेत्रगोलकों में खिंचाव, मांसपेशियों में तनाव, मानसिक तनाव, पाचन और आंतों के रोग जैसे अल्सर, पाचन तंत्र विकार सहित विभिन्न रोगों से ग्रषित हो सकता है।

iv. **बात करने में कठिनाई:** अत्यधिक शोर के कारण, सड़कों या मॉल के अंदर बात करना बहुत मुश्किल हो जाता है।

v. **वन्य जीवों और घरेलू जानवरों पर प्रभाव:** वन्य जीवों और घरेलू जानवरों दोनों पर ध्वनि प्रदूषण का प्रतिकूल मानसिक और शारीरिक प्रभाव पड़ते हैं तथा ये उनके लिए खतरनाक होता है। यह सुनने की क्षमता को कम करता है। कभी-कभी, यह जानवरों के प्रजनन व्यवहार को भी बदल देता है। शोर जानवरों के बीच संचार को बाधित करता है। कुछ जानवर ध्वनि प्रदूषण वाले वातावरण में नहीं रह सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनके परिवास का नुकसान होता है। शोर की उपस्थिति में, कुछ जानवर अपनी आवाज का स्तर बढ़ाते हैं। उदाहरण के लिए, जब बड़े जहाज उनके पास गुजरते हैं तो कई समुद्री जानवर अपनी आवाज़ उठाते हैं। बढ़ी आवाज पहले से मौजूद ध्वनि प्रदूषण में और शोर को जोड़ती है। समुद्री जानवर ध्वनि प्रदूषण के प्रति संवेदनशील होते हैं।ध्वनि प्रदूषणसे वन्य जीवों में भय की भावनातथा आक्रामकता बढ़ जाती है और सामान्य शारीरिक अक्षमताएं जैसे भूख ना लगना, पेशाब, मलत्याग इत्यादि जैसे शारीरिक विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

3. ध्वनि प्रदूषण नियंत्रण उपाय

हमें ध्वनि प्रदूषण के खतरे को गंभीरता से लेना चाहिए। इसके लिए, पहला कदम लोगों को शोर प्रदूषण के कारण होने वाली विभिन्न बीमारियों से अवगत कराने चाहिए। हमें कम शोर उत्सर्जक मशीनों और उपकरणों का उपयोग करने पर ध्यान देना चाहिए। ऊंची ध्वनि उत्पादक मशीनों को ध्वनिरोधी भवनों में रखा जाना चाहिए और ऐसी मशीनों को संभालने वाले कर्मचारियों को ध्वनि अवशोषक कान के प्लगों का उपयोग करना चाहिए। उद्योगों और कारखानों को शहरों या आवासीय क्षेत्रों से दूर स्थापित किया जाना चाहिए। हमें बार-बार हॉर्न बजाने की आदत छोड़नी चाहिए। शोर उत्पन्न करने वाले उपकरणों पर साईलेंसरों का उपयोग करें। हमें लोगों में वाहन साझा करने की आदत को विकसित करना चाहिए एवं कम दूरी हेतु वाहनों के इस्तेमाल से बचना चाहिए। सड़कों के साथ अधिक से अधिक पेड़ लगाए जाने चाहिए क्योंकि वे ध्वनि अवशोषक होते हैं और ध्वनि प्रदूषण को कम करने में मदद करते हैं।

(घ) भूमि प्रदूषण

भूमि या मृदा प्रदूषण को मनुष्यों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप या भूमि के दुरुपयोग के माध्यम से मिट्टी या भूमि की भौतिक, रासायनिक और जैविक स्थितियों में परिवर्तन या पृथ्वी की सतह और मिट्टी का क्षरण या विनाश के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जलवायु के समान मृदा भी एक महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है, जो प्राणियों को भोजन एवं रहन-सहन, विचरण-क्रिया हेतु स्थान प्रदान करती है। भूमि का योगदान मानवीय गतिविधियों के अतिरिक्त पारिस्थितिकी तंत्र में जलचक्र, पोषक तत्व चक्र, ऊर्जा चक्र, फॉस्फोरस चक्र, सल्फर चक्र, नाइट्रोजन चक्र इत्यादि को व्यवस्थित करने में होता है।

1. भूमिप्रदूषण/मृदा प्रदूषण के मुख्य स्रोत

भूमि प्रदूषण दुनिया भर में एक बड़ी समस्या है और विभिन्न कारकों के कारण होता है। मृदा प्रदूषण कि गति को विभिन्न मानव गतिविधियों द्वारा बढ़ाया जाता है। प्रदूषण के कुछ मुख्य कारणों में शामिल हैं:

i. **प्राकृतिक कारक (Natural cause):** कुछ प्राकृतिक कारक जैसे ज्वालामुखीय विस्फोट, बादल का फटना, भूकंप, स्थलीय परिवर्तन, हवा और ग्लेशियरों में बदलाव शामिल हैं मृदा अपरदन के प्राकृतिक कारण बनते हैं। मृदा अपरदन के प्राकृतिक कारक (जैसे वर्षा, हवा, स्थलाकृति, आदि) मानव गतिविधियों द्वारा तीव्र हो जाते हैं।इसके अतिरिक्त, वर्षों से अप्रयुक्त उपजाऊ भूमि भी बंजर हो जाती है; इस भूमि का भी उपयोग नहीं किया जा सकता है।

ii. **अपशिष्ट पदार्थ (Solid Waste):**बड़े पैमाने पर हुए औद्योगीकरण एंव शहरीकरण ने शहरों में बढ़ती जनसंख्या एवं निकलने वाले द्रव एंव ठोस अवशिष्ट पदार्थ मिट्टी को प्रदूषित करते हैं। इन अपशिष्टों में अकार्बनिक एवं कार्बनिक रसायनों के अवशेष पाए जाते हैं जो कई बार जहरीले और हानिकारक होते हैं। इन अवशेषों में रेडियो-विकिरण तत्व एवं भारी धातु जैसे स्ट्रॉन्शियम, कैडमियम, यूरेनियम, लैड आदि भी पाए जाते हैं, जो भूमि की जीवंतता एवं उर्वरता को प्रभावित करते हैं। फ्लाई एश (चिमनियों से निकलने वाली राख) औद्योगिक क्षेत्र के आस-पास के आवासीय क्षेत्रों में प्रदूषण का मुख्य स्रोत है। घर, स्कूल, अस्पतालों, बाजार और कार्यस्थलों से निकले अपशिष्ट, जिनका जैविक अपघटन (Biological Degradation) नहीं होता जैसे- प्लास्टिक बैग, पानी की बोतलें, आदि जैसे प्लास्टिक उत्पाद, कांच, केबल तार, स्टायरोफोम, धातु के डिब्बे, टिन, धातु स्क्रैप,नायलॉन आदि बहुत समय तक मृदा में अवरुद्ध रहकर एवं भौतिक संरचना को प्रभावित करते हैं।

iii. **वनोन्मूलन एवं मृदा अपरदन (Deforestation and Soil erosion):**कृषि, खनन, औद्योगीकरण और शहरीकरण समेत एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए योग्य बनाने हेतु वनों का विनाश वनोन्मूलन कहलाता है। वर्ल्ड वाइल्ड लाइफ फंड के अनुसार पृथ्वी हर साल 1.87 करोड़ एकड़ वन खो देती है, जो हर मिनट 27 फुटबॉल फ़ील्ड के बराबर होती है। भूमि रूपांतरण, के फलस्वरूप भूमि के मूल गुणों में परिवर्तन या संशोधन हो जाता है। यह भूमि को अत्यधिक प्रभावित करता है। भूमि जिसे एक बार सूखी या बंजर भूमि में परिवर्तित किया जाता है, उसे कभी भी उपजाऊ नहीं किया जा सकता है। वनोन्मूलन से न केवल वैश्विक कार्बन चक्र प्रभावित

होता है किन्तु मृदा अपरदन भी बढ़ता है जो पुनः मृदा के निम्नीकरण का कारण बनता है।झूम खेती जैसे कृषि परम्पराएं भी वनोन्मूलन का कारण बनती हैं जिसे मृदा अपरदन बढ़ता है।

iv. **कृषि रसायन (agricultural chemicals):** आधुनिक कृषि में उच्च फसल उपज एवं इसकी सुरक्षा के लिए अनेक प्रकार के रसायनों का प्रयोग किया जाता है उदहारण के लिए रासायनिक उर्वरक जिनमें अत्यधिक फोस्फेट्स और नाइट्रेट्स की मात्रा होती है, कई प्रकार के जैवनाशी रसायन जैसे कीटनाशक एवं शाकनाशीजिनमें अत्यधिक विषैले पदार्थ उपस्थित होते हैं। रासायनिक उर्वरकों में फास्फेट,नाइट्रोजन एवं अन्य कार्बनिक रसायन भूमि के पर्यावरण एवं भूमिगत जल संसाधनों को प्रदूषित करते हैं। जैवनाशी रसायनजैसे मेथिलिन, गैमैक्सिन, डायथेन एम 45, डाइथेन जेड 78 और 2,4 डी केवल हानिकारक कीटों और खरपतवारों को ही नष्ट नहीं करते, जलवायु, मृदा के सूक्ष्म जीवों एवं पक्षियों के लिए भी हानिकारक होते हैं। इन रसायनों के उपयोग से मृदा की गुणवत्ता में ह्रास एवं उर्वरकता में कमी होती है जिसके कारण कृषि उत्पादन में कमी तथा खाद्यान्न संकट में बढ़ोतरी होती है। इसके अतिरिक्त, जब ये रसायन वर्षा के पानी के साथ नदियों और अन्य जल निकायों में पहुँचते हैं तो भूमि पर प्रवाहित जल एवं उसके द्वारा भू-गर्भ तक पहुंचने वाला जल भी प्रदूषित हो जाता है। ये जलीय जीवन एवं अन्य जीवों को भी प्रभित करते हैं। कई बार ये खाद्य श्रृंखला में प्रविष्ट हो जाते हैं जिससे उनकी पहुंच शीर्ष उपभोक्ता तक हो जाती है।यही विषाक्त पदार्थ जब भोजन के माध्यम से मानव शरीर में पहुँचते हैं तो तो नाना प्रकार की बीमारियां को जन्म देते हैं।

v. **परमाणु अपशिष्ट (Nuclear waste):** परमाणु संयंत्र परमाणु विखंडन और संलयन के माध्यम से बड़ी मात्रा में ऊर्जा का उत्पादन करते हैं। ये संयंत्र रेडियोधर्मी अपशिष्ट पैदा करने के लिए जिम्मेदार होते हैं, जो मानव एवं अन्य प्राणियों के स्वास्थ्य को प्रभावित कर सकते हैं। किसी भी दुर्घटना से बचने के लिए उन्हें धरती के नीचे गाड़ दिया जाता है। जो भूमि को अनुपयोगी बना देते हैं तथा भू-जल को भी प्रभावित कर सकते हैं।

vi. **अम्लीय वर्षा (Acid rain):** अम्लीय वर्षा पौधों के विकास के लिए हानिकारक होती है तथा मिट्टी की अम्लता में वृद्धि करती है। यह पर्यावरण में सलफेट और नाइट्रेट जैसे प्रदूषकों की उपस्थिति के कारण होता है जो मुख्यतः मानवीय गतिविधियों जैसे जीवाश्म ईंधन के जलाने और औद्योगिक इकाइयों द्वारा हानिकारक गैसों के उत्सर्जन से पर्यावण में पहुँचते हैं।

vii. **भू-भरण क्षेत्र (Landfills):** भू-भरण क्षेत्र ऐसे क्षेत्र होते हैं जहा किसी शहर या औद्योगिक इकाइयों के कचरे को एकत्रित किया जाता है। ऐसे क्षेत्र भूमि को अनुपयोगी बना देते हैं एवं वायु में भी दुर्गन्ध फैलाते हैं। इन भू-भरण क्षेत्रों की मृदा में अनेक भारी धातु जैसे आर्सेनिक, सीसा, पारा, तांबा, जस्ता और निकल होते हैं जो विभिन्न जल निकायों जैसे भूमि पर प्रवाहित जल एवं उसके द्वारा भू-गर्भ तक पहुंचने वाले जल को भी प्रदूषित कर देते हैं एवं मनुष्य एवं वन्य-जीवों में अनेक बीमारियां पैदा करते हैं। भू-भरण क्षेत्रों के कारण आस पास के संपूर्ण पारिस्थितिकी तंत्रों में असंतुलन पैदा होता है और ऐसे भू-भरण क्षेत्र दूषित पदार्थों का भरण करने वाली प्रजातियों जैसे गिद्ध, भालू और बंदर के लिए भी घातक होते हैं।

viii. **अनियंत्रित पशुचारण (Overgrazing):** अनियंत्रित पशुचारण से छोटी-छोटी वनस्पतियों का क्षरण होता है तथा मृदा अपरदन की अनुकूल परिस्थितियां सृजित होती हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो वन्यजीवन, पशुधन और मानव विकास के लिए खतरा है क्यूंकि इससे पूर्ण वन पारितंत्र प्रभावित होता है जो कई अन्य कारकों को प्रभावित कर सकता है।

ix. **अन्य कारण:** शहरीकरण, जागरूकता की कमी, बढ़ती जनसंख्या, मलजल शोधन, निर्माण और खनन गतिविधियां, औद्योगीकरण आदि भूमि प्रदूषण के कुछ अन्य प्रमुख कारण हैं।

2. भूमि प्रदूषण के प्रतिकूल प्रभाव

भूमिएवंमृदा प्रदूषण पौधों, जानवरों और मनुष्यों को समान रूप से प्रभावित करता है।मृदा प्रदूषण के कुछ दुष्प्रभाव निम्न हैं:

i. **मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव:** मृदा प्रदूषण मानव में विभिन्न प्रकार की स्वास्थ्य समस्याओं जैसे सिरदर्द, मतली, थकान, त्वचा पर लाल चकत्ते, आंखों की जलन का कारण बन सकता है, इसके अतिरिक्त यह, संभावित रूप से गुर्दे और यकृत क्षति, तंत्रिकापेशीय अवरोध, और कैंसर के विभिन्न रूपों जैसी गंभीर स्थितियों को भी उत्पन्न कर सकता है।वे जीवाणु जो मिट्टी के संक्रम से मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट होते हैं, हैज़ा, पेचिश, तपेदिक, आंत्र ज्वर और परांत्रिक ज्वर आदि का कारण बनते हैं।प्लास्टिक कचरे में पॉलीविनाइल क्लोराइड, पॉलीकार्बोनेट, पॉलीस्टीरीन या एक्रिलिक हो सकता है, ये सभी विभिन्न प्रकार के कैंसर, त्वचा रोग, सांस लेने में कठिनाई और आंख की जलन जैसी समस्याएं पैदा कर सकते हैं।आर्सेनिक अत्यधिक जहरीला होता है, और एस्बेस्टोस के साथ, कैंसर का कारण बनता है।

ii. **मृदा गुणवत्ता एवं उर्वरकता में कमी:** भूमि प्रदूषण के परिणामस्वरूप मिट्टी की उर्वरता और कृषि उत्पादन में कमी आती है। विभिन्न रसायन जो कृषि में उपयोग किये जाते हैं वे मृदा की गुणवत्ता में कमी आती है एवं प्राकृतिक उर्वरकता भी प्रभवित होती है। यह उत्पादन में कमी का कारण बनता है तथा खाद्यान्न संकट के फलस्वरूप भुखमरी जैसी आपदाओं में बढ़ोतरी करता है।मृदा अपरदन से मृदा बंजर भूमि में बदल जाती है।

iii. **जलवायु परिवर्तन:** भूमि प्रदूषण के प्रभाव बहुत खतरनाक हैं और एक साथ कई पारिस्थितिक तंत्रों के विनाश का कारण बन सकता हैं। पृथ्वी पर कई जीव अपने परिवास एवं भोजन के लिए भूमि पर निर्भर होते हैं और जब भूमि प्रदूषित हो जाती है तो यह अन्य पारितंत्रों जैसे समुद्र एवं नदियों को भी प्रभावित करती हैं, तो यह सीधे या अप्रत्यक्ष रूप से जलवायु परिवर्तन का कारण बनती है।इसका एक प्रमुख उदाहरण वनोन्मूलन के कारण कार्बन चक्र में आने वाला बदलाव है जो ग्रीनहाउस प्रभाव के माध्यम से ग्लोबल वार्मिंग का कारण बनता है।

iv. **जैव विविधता की हानि:** भूमि के प्रदूषित होने से वहां किसी भी प्रकार के जीवन का पनपना असंभव हो जाता हैं तथा पहले से मौजूद जैव विविधता या तो नष्ट हो जाती है या उनको अपना आवास बदलना पढ़ता

है। भूमि प्रदूषण से कई पारिस्थितिकी तंत्र एक साथ प्रभावित होते हैं जिससे उनमे रहने वाले जीव-जंतु प्रभावित होते हैं एवं कई बार विलुप्त हो जाते हैं।

v. **पर्यावरणीय प्रभाव:** वनोन्मूलन जल चक्र में असंतुलन लाता है और असंतुलित जल चक्र कई कारकों को प्रभावित कर सकता है। इसी प्रकार वनोन्मूलन के कारण कई प्राकृतिक चक्र जैसे कार्बन चक्र, नाइट्रोजन चक्र, सल्फर चक्र, फॉस्फोरस चक्र आदि में बदलाव आ सकते हैं। पेड़ और पौधे वायुमंडल को संतुलित करने में मदद करते हैं, तथा इनका विनाश कई प्राकृतिक चिंताओं जैसे ग्लोबल वार्मिंग, ग्रीन हाउस प्रभाव, अनियमित वर्षा और बाढ़ को जन्म देता है।भूमि प्रदूषण से विभिन्न जीवों के पर्यावरण और परिनिवास को नुक्सान होता है।

vi. **अन्य प्रभाव:** भू-भरण क्षेत्रों के कारण होने वाले प्रदूषण से शहर पर्यटन अपना आकर्षण खो देता है जिसके फलस्वरूप राजस्व में कमी आ सकती है, प्रदूषित भूमि विभन्न कुतरने वाले जानवरों जैसे चूहों और हानिकारक कीटो के प्रजनन स्थल के रूप में कार्य करती है, कई भू-भरण क्षेत्र हमेशा जलते रहते हैं और वे आगे वायु प्रदूषण का कारण बनते हैं।

भूमि पर्यावरण की आधारभूत इकाई होती है। यह एक स्थिर इकाई होने के नाते इसकी वृद्धि में बढ़ोत्तरी नहीं की जा सकती हैं।भूमि प्रदूषण जिसे भू-प्रदूषण भी कहा जाता है भूमि की प्राकृतिक गुणवत्ता तथा उपयोगिता नष्ट करता है।आज पूरे विश्व में विभिन्न मनवीय गतिविधियों के कारण मृदा अपरदन और भूमि प्रदूषण जैसी गंभीर समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं।जंतु जगत एवं पादप जगत का अस्तित्व मिट्टी पर आधारित होता है जिनके जीवन पर भूमि एवं मृदा प्रदूषण के अनेक दुष्प्रभाव होते हैं इसलिए मृदा प्रदूषण का नियंत्रण नितांत आवश्यक हो जाता है।

मृदा की गुणवत्ता के ह्रास से न केवल कृषक, बल्कि देश की अर्थ व्यवस्था, मानव सहित अन्य जीव-जंतु एवं वनस्पतियों का स्वास्थ्य भी प्रभावित होती हैं।भूमि प्रदूषण से बचने के लिए लोगों को इसके हानिकारक प्रभावों के बारे में शिक्षित किया जाना चाहिए और अपशिष्ट घटाओ, वस्तुवों का पुन: उपयोग और वस्तुवों की पुनरावृत्ति (Reduce waste, Reuse things, Recycle things) की नीति का पालन करना चाहिए।रासायनिक उर्वरकों के स्थान पर समन्वित पादप पोषण प्रबंधन (Integrated Plant Nutrient Management) प्रचलन में लाना चाहिए जिससे मिट्टी के मौलिक गुण कालांतर तक विद्यमान रहेंगे।वनोन्मूलन पर प्रतिबंध लगाकर मृदा अपरदन तथा इसके पोषक तत्वों को सुरक्षित रखने के लिए मृदा संरक्षण प्रणालियों को अपनाया चाहिए।झूम-खेती पर प्रतिबंध के द्वारा भू-क्षरण की समस्या को कम किया जा सकता है।

कृषि भूमि के अनवरत उपयोग, कीटनाशी रसायनों के प्रयोग, वनोन्मूलन, अनियंत्रित पशुचारण, अपरदन आदि द्वारा मृदा के मौलिक गुणों को नष्ट करने वाले कारणों पर गहन अध्यन होना चाहिए एवं उनकी रोकथाम के लिए उचित कदम उठाये जाने चाहिए। औद्योगिक इकाइयों से निकलने वाले अपशिष्टों का उचित प्रसंस्करण होना चाहिए एवं उन्हें कम हानिकारक बनाने पर जोर देना चाहिए। हमें अपघटनीय पदार्थों से बने उत्पादों को ही खरीदना एवं इस्तेमाल करना

चाहिए। इसके अतिरिक्त प्लास्टिक के उत्पादों पर ज्यादा कर लगाया जाना चाहिए ताकि इनके प्रचलन को रोका जा सके, भू-भरण क्षेत्रों का निर्माण आवासीय क्षेत्रों से दूर करना चाहिए, नगरों में उचित जल निकासी के उपाय होने चाहिए,भूमि उपयोग तथा फसल प्रबंधन पर ध्यान देना चाहिए, कृषि गतिविधियों में कीटनाशकों और उर्वरकों के उपयोग को कम करना चाहिए एवं जैविक खेती को और कार्बनिक खाद्य पदार्थों के उत्पादन को बढ़ावा देना चाहिए।

1.8 सारांश

आज विश्व के पर्यावरण समेत अधिकांश प्राकृतिक संसाधन विभिन्न कारणों से निम्नीकरण की गंभीर समस्या का सामना कर रहे हैं, जिनमें से कुछ प्राकृतिक हैं और कुछ मानव निर्मित हैं। पर्यावरणीय निम्नीकरण का प्रभाव किसी देश या क्षेत्र के साथ-साथ वैश्विक पारिस्थितिक तंत्र के सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरण प्रणालियों पर विनाशकारी हो सकता है। पर्यावरणीय विपत्ति मानव निर्मित सीमाओं को नहीं पहचानती हैं। पृथ्वी कई पारिस्थितिक तंत्रों को मिलकर बनती हैं तथा ये सभी पारिस्थिकी तंत्र अपने आप में सक्षम एवं गृह पर जीवन के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। सभी जीवों की आपस में परस्पर निर्भरता के कारण उनका संरक्षण आवश्यक है। सरकारों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और समुदायों को पर्यावरणीय निम्नीकरण से जुड़े जोखिमों को कम करने के लिए और जलवायु परिवर्तन में योगदान देने वाले कारकों को कम करने के लिए सभी स्तरों पर एक साथ काम करना चाहिए तथा यह सुनिश्चित करना चाहिए कि गरीब देशों का उत्थान हो सके तथा सभी का सतत विकास हो। साथ ही, कंपनियों, संगठनों और व्यक्तियों को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि उनका काम पर्यावरण के अनुकूल और सतत है।

हमारा गृह विवध और सुंदर होना चाहिए। इसका प्रत्येक पारिस्थिकी तंत्र स्वस्थ और जीवन को सहयोग देने वाला होना चाहिए। हमारा पर्यावरण एक धरोहर हैं और हमें इसे अपने आने वाली पीढ़ियों को वैसा ही सौंपना चाहिए जैसा यह हमें मिला था। इसके लिए आवश्यक हैं कि हम अपने पर्यावण को स्वच्छ रखें और अपने संसाधनों का उचित उपयोग करें। वायु, भूमि और जल हमारे सबसे मूल्यवान संसाधन हैं, और हम बस उन्हें खोने का जोखिम नहीं उठा सकते हैं। इन तीन संसाधनों के बिना, हम जीवित नहीं रह सकते हैं।पर्यावरणीय गिरावट के उदाहरणों में मृदा अपरदन, जल भराव, कृषि भूमि की का अम्लीकरण और उर्वरकत एवं उत्पादकता की हानि, सतही और भूजल स्रोतों का प्रदूषण और पीने और सिंचाई के लिए पानी की तेजी से कम होती उपलभ्धता, गिरती मत्स्य उपज, और हवा की गुणवत्ता में गिरावट शामिल हैं। हवा, पानी और भूमि प्रदूषण के बढ़ते स्तर मानव स्वास्थ्य और जीवन के लिए गंभीर खतरा पैदा करते हैं। प्राकृतिक संसाधनों और पर्यावरण का न्यायसंगत प्रबंधन न केवल हमारे अस्तित्व के लिए बल्कि आर्थिक उन्नति और विकास को बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है।सतत विकास में पर्यावरण की एक प्रमुख भूमिका होती हैं अतः हमें ऐसे उपाय ढूंढ़ने चाहिए जिस से हमारे पर्यावरण को कम से कम नुक्सान हो एवं यह प्रदूषित न हो।इसके अलावा, हम अपने सभी अपशिष्ट उत्पादों का निस्तारण करने के लिए सुरक्षित तरीकों की तलाश कर सकते हैं ताकि दोनों मानव और वन्य जीवन, साथ ही संपूर्ण पारिस्थितिक तंत्र को संरक्षित किया जा सके।

1.9अभ्यासप्रश्न

I. बहुविकल्पी प्रश्न

1. इनमें से कौन सा भूजल प्रदूषण का प्रमुख स्रोत नहीं है?

i) कृषि उत्पाद

(ii) लैंडफिल

(iii) भूमिगत भंडारण टैंक

(iv) उपर्युक्त सभी प्रमुख हैं

2. ध्वनि कितने डेसिबल पर खतरनाक शोर प्रदूषण बन जाती है

i)50 से ऊपर

ii) 80 से ऊपर

iii) 100 से ऊपर

iv) 130 से ऊपर

3. समताप मंडल में ओजोन की कमी के कारण अधिक पराबैंगनी विकिरण पृथ्वी तक पहुँचते हैं इससे जुड़े प्रमुख स्वास्थ्य जोखिम क्या हैं?

i) पाचन तंत्र को नुकसान

ii) जिगर कैंसर में वृद्धि हुई

iii) तंत्रिका संबंधी विकार

iv) त्वचा कैंसर

4. जैविक ऑक्सीजन की मांग (BOD) का मतलब है:

i) औद्योगिक प्रदूषण

(ii) वायु प्रदूषण

iii) प्रदूषण क्षमता

iv) कार्बनिक पदार्थों को विघटित करने के लिए सूक्ष्म जीवों द्वारा आवश्यक ऑक्सीजन

5. ध्वनि प्रदूषण द्वारा निम्नलिखित में से कौन सी समस्याएं नहीं उत्पन्न होती हैं?

i) दस्त

ii) उच्च रक्तचाप

iii) बहरापन

iv) चिड़चिड़ाहट

6. जीवाश्म ईंधन के जलने से पर्यावरण में जुड़ता है?

i) CO_2, SO_2, NO_2

ii) C, SO_2, N_2

iii) CO, SO_3, NO_3

iv) CH_4, CO_2, NO_2

उत्तर कुंजी: 1. iv) 2. ii) 3. iv) 4. iv) 5. i) 6.

II. लघुउत्तरीयप्रश्न

1. प्राकृतिक संसाधनों की परिभाषा लिखिए। दो निरपेक्ष नवीकरणीय प्राकृतिक स्रोतों के नाम लिखिए।
2. निरपेक्ष नवीकरणीय संसाधन कौन से होते हैं? दो उदाहरण दीजिए
3. जैविक ऑक्सीजन की मांग से आप क्या समझते हैं?
4. सुपोषण (Eutrophication) क्या होता है?
5. कोई तीन औद्योगिक अपशिष्टों के नाम लिखिए।
6. नई कृषि नीतियाँ पर्यावरण के लिए कैसे हानिकारक है?

III. निबंधात्मकप्रश्न

1. पर्यावरणीय निम्नीकरण से आप क्या समझते हैं? इसके मुख्य कारणों एवं प्रभावों की विवेचन कीजिये।
2. वायु प्रदूषण पर एक निबंध लिखिए।
3. जल प्रदूषण के कारणों का वर्गीकरण कैसे किया जा सकता है?
4. जल प्रदूषण के मुख्य कारणों एवं प्रभावों पर एक निबंध लिखिए।
5. ध्वनि प्रदूषण के मुख्य कारन क्या हैं और उनसे कैसे बचा जा सकता है?
6. भूमि प्रदूषण के कारण और प्रतिकूल प्रभाव क्या हैं?

सहायकउपयोगीपाठ्यसामग्री

1) Goudie, Andrew (2006)- *The human impact on the natural environment: past, present, and future*. Wiley-Blackwell
2) Botkin Daniel B; Keller, Edward A (2014)- *Environmental Science: Earth as a Living Planet*-(Wiley Publication)
3) Keller, Edward A; Botkin, Daniel B (2008)-*Essential Environmental Science*. Wiley Publication
4) Diamond, Jared (2005)- *Collapse: How Societies Choose to Fail or Succeed*, Penguin Books
5) John L. Seitz, Kristen A. Hite (2012)- *Global Issues* (4 ed.). Wiley-Blackwell.

इकाई 2

पर्यावरण सुरक्षा के लिये समुदायों का संगठनः गैर सरकारी संस्थाओं, महिलाओं और हितधारकों की भूमिका

2.0: उद्देश्य

2.1: परिचय

2.2: समुदायों की सहभागिता एवं गतिशीलता

2.3: समुदाय संगठन के लिये जरूरी कदम

2.4: सामुदायिक विकास के मूल तत्व

2.5: महिला सहभागिता का महत्व

2.6: गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

2.7: महिलाओं की भूमिका

2.8: हितधारकों की भूमिका

2.9: सन्दर्भ

2.0: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद हम समझ पायेंगे किः

- पर्यावरण की सुरक्षा क्यों आवश्यक है
- ग्रामीण समाज में समुदायों का क्या महत्व है और ये समुदाय किस तरह पर्यावरण संरक्षण में मददगार हो सकते हैं
- समुदायों को संगठित और प्रेरित करने के लिये क्या कारगर कदम उठाये जाने चाहिये

- गैर सरकारी संगठन, महिलाएं और हितधारक कैसे इस लक्ष्य को पाने में मदद कर सकते हैं

2.1: परिचय (Introduction)

- **समुदाय (Community):** समुदाय का तात्पर्य ऐसे जनसमूह से है जो समान सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक तौरतरीकों, अभिरुचियों के जरिये अलग पहचान रखता है। इससे समुदाय में समान लक्ष्यों को हासिल करने के लिये सामूहिकता का भाव विकसित होता है। हालांकि, कई बार जिसे एक समुदाय समझ लिया जाता है, वह कई उपसमुदायों का समूह भी हो सकता है, जिन्हें वंशों–जातियों, सामाजिक वर्गों, भाषा अथवा धर्म के आधार पर बांटकर देखा जा सकता है। समुदाय अपने सदस्यों के प्रति संरक्षक होता है, लेकिन इस प्रक्रिया में कई बार यह सामाजिक नियंत्रण का प्रयास करता है जिसके चलते उपसमुदायों के लिये अपने विचार रख पाना और अपने अधिकार हासिल कर पाना मुश्किल हो जाता है।
- **समुदाय आधारित दृष्टिकोण (Community Based Approach):** समुदाय आधारित दृष्टिकोण समुदायों को अपनी सामाजिक समस्याओं के निस्तारण में मदद कर सकता है। इससे समुदाय बाहरी कारकों के बिना स्वतः अपने दायित्वों को समझ सकता है। यह सांस्कृतिक तौर–तरीकों के पुनर्गठन और बुनियादी ढांचे के विकास का पक्षधर है। वस्तुतः समुदाय आधारित दृष्टिकोण का लक्ष्य लोगों के आत्मविश्वास और समुदाय की प्रतिष्ठा को बनाये रखना और सभी कारकों को सशक्त कर एकसाथ मिलकर काम करने को प्रेरित करना तथा समुदाय के विभिन्न सदस्यों की सहभागिता और उनके मानवाधिकारों का संरक्षण है।
- **समुदाय आधारित मुद्दे (Community Based Issues):** समुदाय आधारित मुद्दों में स्वास्थ्य, शिक्षा, जल और सफाई, आवास, परिवहन सुविधाएं और पर्यावरण शामिल हैं। यहां कई घटकों में लक्ष्य को हासिल कर पाने की अक्षमता बड़ी चिंता है, लेकिन अकसर इस चिंता की अनदेखी की जाती है। कई समुदायों में ऐसी बाधाएं रहती हैं, जो लोगों के जीवन की गुणवत्ता को कम करने की वजह बनती हैं। इनमें भौतिक, पर्यावरणीय, व्यावहारिक, सांस्कृतिक सेवाओं में कमी, अनुचित वितरण, अव्यवस्थित तंत्र और कमजोर नीतियां शामिल हैं।

2.2: सामुदायिक सहभागिता और गतिषीलता (Community Participation and Mobilization)

सामुदायिक संगठन और गतिशीलता का तात्पर्य उस क्षमता के विकास से है, जिसके जरिये समुदाय में शामिल व्यक्ति, समूह अथवा संस्थाएं नियोजन करती हैं, गतिविधियों को तय करती हैं, सतत सहभागिता सुनिश्चित करती हैं और स्वतः प्रयासों अथवा अन्यों की मदद से समुदाय को स्वास्थ्य तथा अन्य जरूरतों को हासिल करने के लिये आगे बढ़ाती हैं। सामुदायिक सहभागिता और गतिशीलता में जनसंख्या के सभी वर्गों को स्वास्थ्य, सामाजिक–पर्यावरणीय मुद्दों पर वृहद् प्रयास की ओर कदम बढ़ाया जाता है। इस प्रक्रिया में नीति निर्माताओं, वैचारिक नेताओं, स्थानीय, राज्य और संघीय सरकार, व्यावसायिक समूहों, धार्मिक समूहों, व्यापारिक तथा व्यक्तिगत सामुदायिक सदस्यों को शामिल किया जाता है। सामुदायिक गतिशीलता की प्रक्रिया व्यक्तियों–समूहों को परिवर्तन की किया संचालित करने के लिये सशक्त करती है।

- **गतिशीलता का अर्थ (Meaning of Mobilization):** गतिशीलता का अर्थ उस प्रक्रिया से है, जिसमें किसी को आगे बढ़ने योग्य बनाया जाता है। इसका तात्पर्य लोगों, संसाधनों को गतिशील बनने को प्रेरित करने से है। उदाहरण के लिये, किसी दिव्यांग व्यक्ति को चलने–फिरने के लिये व्हीलचेयर देना।

- **सामुदायिक विकास प्रक्रिया (Community Development Process):** सामुदायिक विकास वह प्रक्रिया है, जिसमें समुदाय के सदस्य सामूहिक क्रियाओं के जरिये समुदाय की विभिन्न समस्याओं का समाधान तलाशते हैं। समुदाय के आर्थिक, सामाजिक, पर्यावरणीय और सांस्कृतिक कल्याण में जमीनी स्तर पर इन सामूहिक क्रियाओं का लाभ मिलता है।

2.3: सामुदायिक सहभागिता के लिये जरूरी कदम (Steps to Successful Community Engagement and Mobilization)

आप शुरुआत कैसे करेंगे? समुदायों को सहभागी कैसे बनाया जा सकेगा? या समुदायों को सहभागिता और व्यवस्थित रहने के लिये कैसे प्रेरित किया जा सकता है? जैसे सवाल अकसर उठते हैं। इन सवालों के जवाब तलाशने के लिये पांच व्यावहारिक कदम उठाये जाने की जरूरत होती है:

- **पारदर्शी समुदाय का चयन:** लक्षित समुदाय के चयन के कई विकल्प होते हैं। इसके लिये विशिष्ट चयन प्रक्रिया का उपयोग किया जा सकता है या भौगोलिक प्राथमिकता अथवा सामाजिक–जनसांख्यिकीय वर्गों को ध्यान में रखा जा सकता है। पारिवारिक आय, स्कूलों में ड्रॉपआउट दर जैसे आंकड़े भी चयन का मानक हो सकते हैं। समुदाय के चयन के साथ यह भी महत्वपूर्ण है कि शोधकर्ता इस पूरी प्रक्रिया के मानकों और परिणामों को सार्वजनिक करे। इन परिणामों को ऑनलाइन साझा किया जा सकता है, जो हितधारकों और अन्य समुदायों (जिनका चयन नहीं किया गया हो) तक भी पहुंचने चाहिये। यदि सार्वजनिक आंकड़े उपलब्ध न हों अथवा विश्वसनीय नहीं हों अथवा शोधकर्ता के पास समय और पर्याप्त बजट का अभाव हो तो केन्द्रित समूहों तथा मूल सूचनाप्रदायक साक्षात्कारों का इस्तेमाल किया जा सकता है।

- **सामुदायिक प्राथमिकताओं का प्रारूप और सामुदायिक मूल्यांकन के जरिये अगुवाओं की पहचान:** एक बार लक्षित समुदाय की पहचान करने के बाद शोधकर्ता एक साधारण प्रश्नसूची तैयार करता है, जिसके जरिये समुदाय के अगुवाओं की क्षमताओं की पहचान करना आसान होता है। प्रश्नसूची को घर–घर सर्वे के जरिये बांटा जाता है। इसके जरिये समुदाय के सदस्यों को भी भावी कार्यक्रमों, इनके उद्देश्यों और भावी कदमों की जानकारी मिल जाती है। इस प्रक्रिया में यह बात सामने आती है कि समुदाय के सदस्य खुलकर अपनी जरूरतों, प्राथमिकताओं को बता पाते हैं और इससे समुदाय के अगुवा की भी जानकारी मिल जाती है। उदाहरण के लिये, शोधकर्ता स्पष्ट रूप से यह नहीं पूछता कि समुदाय का अगुवा कौन है, लेकिन यह जानना चाहता है कि आवश्यकता के दौरान कौन समुदाय के सदस्यों की मदद करता है अथवा समुदाय के किसी मसले के समाधान की जरूरत कब महसूस की जाती है।

- **सामुदायिक नेताओं के साथ बैठक करना और सामुदायिक सहभागिता को बढ़ाने में उनका समर्थन लेना:** पहुंच से दूर रहने वाले समुदाय अकसर बाहरी लोगों के प्रति संशयात्मक भाव रखते हैं। इसका एक कारण यह भी होता है कि बुनियादी सुविधाएं मुहैया कराने और सामुदायिक अवस्थापना में मदद के नाम पर उनसे किये गये पुराने वादे पूरे नहीं किये गये होते हैं। समुदायों को बिना किसी माध्यम के जनता के बीच सीधे सामान्य संदेश देकर किसी मुद्दे पर चर्चा के लिये बुलाना लगभग असंभव होता है, यह स्थिति सहभागिता की राह में रोड़ा बन सकती है। ऐसे में सामुदायिक सर्वे के दौरान चिह्नित किये गये समुदायों के अगुवाओं या नेताओं को कार्यक्रम में शामिल करना, उनका फीडबैक लेना और समुदाय के समग्रता से सहभागिता करने की दिशा में उनका सहयोग लेना जरूरी होता है। पहली सामुदायिक बैठक के आयोजन के बाद अन्य लोगों तक धीरे–धीरे पहुंच आसान हो जाती है, लेकिन तब भी सामुदायिक नेताओं का सहयोग लेते रहना आवश्यक होता है।

- **स्थानीय प्रतिनिधित्व का चयन और कार्यक्रमों का संयोजन:** वैश्विक समुदाय का प्रोडक्ट एंड साइकिल टाइम एक्सीलेंस (PACE) दृष्टिकोण सामुदायिक समन्वय तंत्र के बूते चलता है, जिन्हें सामुदायिक विकास परिषद (Community Development Councils: CDC) कहा जाता है। सामुदायिक कार्यक्रमों में इन परिषदों के सदस्यों को बेहतर ज्ञान, प्रशिक्षण और कौशल उपलब्ध कराया जाता है। दीर्घकालिक सामुदायिक विकास नियोजन, परियोजनाओं का निर्माण और संचालन जैसी कई गतिविधियां इन परिषदों के माध्यम से चलायी जाती हैं, जो समुदायों में क्षमता विकास का जरिया बनती हैं। इसका लक्ष्य ऐसे महत्वपूर्ण समूह का निर्माण है जो समुदायों को आगे बढ़ाने का काम कर सकें। यद्यपि इन परिषदों की स्थापना खास कार्यक्रमों के समन्वय के लिये ही की जाती है, लेकिन कई अनुभवों से यह भी सामने आया है कि कई सफल परिषदें औपचारिक समुदाय आधारित संगठनों में रूपांतरित हो गये और कानूनी प्रतिनिधित्व करते हुये वे बाहरी स्रोतों से निवेश हासिल करने में भी कामयाब रहे।**समुदायों को प्राथमिकताएं तय करने की स्वतंत्रता और स्थानीय सहभागिता के लिये तत्काल प्रभावी परियोजनाओं का चयन:** पहली सामुदायिक बैठक में जाने से पहले ही यह जरूरी है कि किसी ऐसे सामुदायिक कार्यक्रम को चुन लिया जाये, जो कम समय में पूरा हो सकता है।

इस तरह की छोटी परियोजनाएं समुदायों में प्रारंभिक उत्साह को बढ़ावा देती हैं और कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में मददगार होती है। तत्काल प्रभावी परियोजनाएं (Quick Impact Projects: QIP) परिषदों के सदस्यों में आत्मविश्वास की बढ़ोतरी करने के साथ सामुदायिक अगुवाओं को भी नया लक्ष्य देती हैं, इसके अलावा इनके जरिये विफल समझे जाने वाले सदस्यों को भी सहभागी बनाती हैं जो पहले उपेक्षित रहते थे, यही नहीं इनके जरिये समग्र कार्यक्रम के संचालन के लिये समुदाय की क्षमताओं की आवश्यकता की भी जानकारी हासिल हो सकती है, साथ ही यह भी जानकारी आसानी से मिल जाती है कि परिषद सदस्यों को कहां और किन–किन विषयों का प्रशिक्षण कार्यक्रम के सफल संचालन के लिये आवश्यक है।

- **समुदाय को पहली परियोजना चुनने का अधिकारः** सामुदायिक बैठकों के जरिये उनकी आवश्यकताओं की प्राथमिकताएं तय हो जाती हैं। इसके बाद समुदाय सदस्यों को ही अतिरिक्त प्राथमिकताओं को शामिल करने, इन पर चर्चा करने को कहा जाता है। निश्चित मानकों, लागत, समयबद्धता, सामुदायिक योगदान और अन्य बाहरी स्रोतों आदि बिन्दुओं पर विस्तार से विमर्श के बाद समुदाय सदस्य परस्पर तय करते हैं कि उन्हें सबसे पहले कौन सा काम करना चाहिये। इसके बाद समुदाय सर्वसम्मति से अथवा मतदान के जरिये पहली सामुदायिक परियोजना या गतिविधि का चयन करता है। इसके बाद आगे ये समुदाय अपने आप लक्ष्य हासिल करते जाते हैं।

समुदाय के साथ काम करते वक्त यह हमेशा सुझाव दिया जाता है कि सामुदायिक गतिशीलता चक्र को हमेशा ध्यान में रखें। यह चक्र आठ कदमों से मिलकर बना है और किसी समुदाय को सशक्त बनाने की प्रक्रिया में इसे नियमित तौर पर इस्तेमाल किया जाना चाहिये, जिससे उनकी समस्याओं का निस्तारण संभव हो सकता है और वे स्वयं अपनी परियोजनाओं का निर्माण कर सकते हैं।

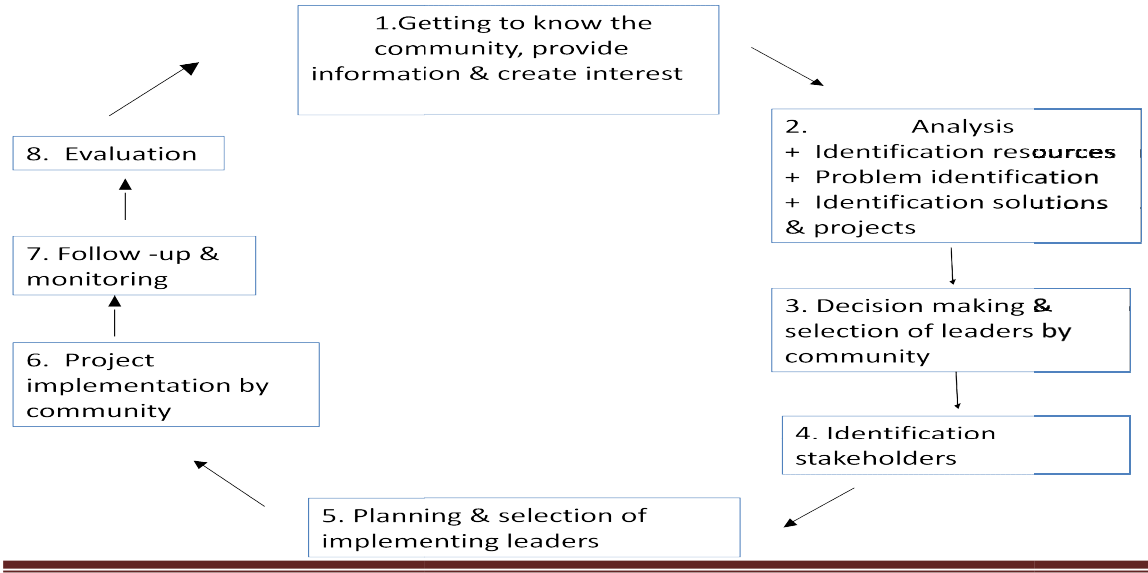

सामुदायिक संगठन या गतिशीलता विकास को निम्न चित्र से भी समझा जा सकता है:

2.4: सामुदायिक विकास के मूल तत्व (Key Ingredients of Community Development)

सामुदायिक विकास प्रक्रिया को सतत बनाये रखने और प्रोत्साहित करने के लिये आवश्यक नौ मूल तत्व अथवा घटक निम्नवत हैं:

1. सामुदायिक आवश्यकताओं की पहचान

- सरकारी संस्थानों और समुदायों के बीच नियमित चर्चा–विमर्श
- मौजूदा औपचारिक अथवा अनौपचारिक संगठनों, संस्थानों की मदद लेना

2. नियोजन प्रक्रिया में सहभागिता

- सामुदायिक नेताओं को सामुदायिक परियोजनाओं के निर्माण का प्रशिक्षण
- निचले पायदान से ऊपर की ओर नियोजन के लिये प्रक्रियाओं में परिवर्तन
- नियोजन प्रक्रिया के दौरान एक से अधिक समूहों के साथ समन्वय तथा क्रियान्वयन

3. स्थान, लाभधारकों तथा सामुदायिक नेताओं का चयन

- कार्यस्थान, लाभधारकों तथा नेताओं के चयन में समुदाय की सहभागिता
- एक से अधिक समुदायों के साथ काम करना
- सामुदायिक कार्यकर्ताओं की मदद से समुदाय की सहमति हासिल करना
- सामुदायिक नेताओं को प्रशिक्षण प्रदान करना

4. परियोजना संसाधनों के वितरण में नियंत्रण

- वित्तीय और प्रशासकीय अधिकरण का विकेन्द्रीकरण
- सामुदायिक विकास समितियों की परियोजना संसाधनों के वितरण में सहभागिता बढ़ाना
- वित्तीय प्रक्रियाओं और प्रबंधन के बारे में सामुदायिक नेताओं को जरूरी प्रशिक्षण

5. सामुदायिक संसाधनों की गतिशीलता

- औपचारिक और अनौपचारिक, दोनों तरह के नेताओं की सामुदायिक संसाधनों की गतिशीलता व संगठन में सहभागिता सुनिश्चित करना
- समुदायों से सहयोग व योगदान मांगने से पूर्व उन्हें पर्याप्त सूचनाएं और जानकारियां उपलब्ध कराना
- उन्हीं गतिविधियों के लिये सामुदायिक योगदान की मांग करना, जो प्रत्यक्ष अथवा तात्कालिक रूप से संबंधित समुदाय को प्रभावित करने वाली हो
- सामुदायिक कोष की प्रक्रिया से पूर्व समुदाय की सहमति अनिवार्य

6. परियोजनात्मक गतिविधियां

- समुदायों को इतना उत्तरदायी बनाना कि वे स्वतः अपनी जरूरतों के हिसाब से परियोजनाएं बना और लागू कर पाने में सक्षम हो सकें
- सामुदायिक नियंत्रण में प्रक्रियाओं का मानकीकरण तथा परियोजनाओं की सामुदायिक निगरानी
- सामुदायिक नेताओं को समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था और परियोजनात्मक गतिविधियों में उनकी मदद

7. निगरानी और परियोजना का मूल्यांकन

- सामुदायिक विकास समितियों को स्थानीय परियोजनाओं तथा कार्यक्रमों की नियमित निगरानी तथा मूल्यांकन का जिम्मा सौंपना

- सामुदायिक नेताओं को निगरानी के तरीकों तथा परियोजनाओं के मूल्यांकन की विधियों की जानकारी का प्रशिक्षण देना

8. प्रतीकात्मकता

- समुदाय के कार्यों को प्रतीक के रूप में आगे बढ़ाना, ताकि समुदाय के सदस्यों को किसी कार्य, परियोजना के संचालन की प्रक्रियाओं की याद रहे, जो उन्हें हमेशा यह समझा सके कि उन्होंने अपना लक्ष्य कैसे हासिल किया है

9. सतत प्रशिक्षण

- विभिन्न समुदायों के बीच परस्पर भ्रमण कार्यक्रम और एक–दूसरे की परियोजनाओं को जानने–समझने के मौके उपलब्ध कराना
- सफलताओं और विफलताओं की समुदायों को जानकारी देना
- समुदायों के भीतर ही ऐसा ढांचा विकसित करना, जहां सतत विकास और प्रशिक्षण की व्यवस्था हो

2.5: महिला सहभागिता का महत्व (Importance of Women's Participation)

समुदायों और समाजों में पर्यावरण संरक्षण एवं सतत विकास का लक्ष्य हासिल करने में महिलाएं महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती हैं। किसान, गृहिणी, मां और सामाजिक स्वरूपों के लिहाज से महिलाएं हर मुद्दे का केन्द्रबिन्दु होती हैं और अकसर पर्यावरणीय नुकसानों की सबसे अधिक चोट भी उनको ही झेलनी होती है। 1980 के दशक से सतत विकास और पर्यावरण संरक्षण में महिलाओं की भूमिका को प्रमुखता से उजागर किया गया। हालांकि, बीते एक दशक में अंतर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय कार्यशैलियों में तीन मूल पहल की गयी हैं, जिनके जरिये महिलाओं के मुद्दे आसानी से समझे जा सकते हैं। ये हैं: **the *Rio Declaration on Environment and Development*, 1992; the *Beijing Declaration and Platform for Action, 1995*, और *ASEAN's Vision 2020 Statement, 1998.*** ये वही दस्तावेज हैं, जिन्होंने राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण संबंधी कार्यक्रमों को आकार प्रदान करने का आधार दिया। उदाहरण के लिये 'बीजिंग प्लेटफार्म' को ध्यान में रखा जा सकता है। यह शिक्षा, वंशानुगत उत्तराधिकार, आर्थिक संसाधनों तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं की पहुंच को बढ़ाने का पक्षधर है।

महिलाओं के लिये काम करने वाले गैर सरकारी संगठनों ने इन पहलों से मिले अवसरों का लाभ उठाया और राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तर पर महिलाओं को अधिकार प्रदान किये जाने को लेकर आंदोलनात्मक अभियान चलाये। मलेशिया, थाईलैंड जैसे देशों में महिला संगठनों की नियमित बैठकें होती हैं, जिनमें सतत विकास प्रक्रिया में महिलाओं को आगे बढ़ाये जाने के लिये उठाये गये कदमों की सफलता और नये कदम उठाने की जरूरतों पर विमर्श किया जाता है। सिंगापुर का संगठन **ENGENDER** राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर पर पर्यावरणीय मसलों में महिलाओं की सहभागिता को प्रोत्साहन देने के साथ नियमित निगरानी भी करता है। महिला संगठनों ने साबित किया है कि पर्यावरण संरक्षण के अभियानों को सफलतापूर्वक संचालित करने में सक्षम हैं। उत्तराखंड का चिपको आंदोलन महिला सहभागिता का ऐसा

ही बड़ा उदाहरण है, जिसमें गांधीवादी अहिंसक तरीके से ग्रामीण महिलाओं ने पेड़ों के कटान का विरोध किया और यह आंदोलन देश–दुनिया के लिये मिसाल बन गया। 1970–80 के दशक में इस आंदोलन के बाद उत्तराखंड के हिमालयी क्षेत्र में वृक्षपातन पर 15 साल तक प्रतिबंध लगा दिया गया था।

2.6: गैरसरकारी संगठनों की भूमिका (NGOs Role and Activities)

एशियाई और प्रशांत क्षेत्रों में पारंपरिक रूप से समुदाय आधारित संगठन वनों, जल संसाधनों के प्रबंधन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। यद्यपि बाद के दशकों में विभिन्न देशों में सरकारी तंत्र की सक्रियता बढ़ने के बाद इसमें कुछ कमी आयी, लेकिन हाल के कुछ वर्षों में एक बार फिर सामुदायिक सहभागिता और गैरसरकारी संगठनों, युवा, महिलाओं तथा पारंपरिक लोगों और किसानों–व्यापारियों के समन्वयात्मक संगठनों का विकास उभार पर है। विशेष रूप से गैरसरकारी संगठनों ने पर्यावरणीय चिंता से जुड़े मुद्दों को उठाने, जागरूकता कार्यक्रमों के संचालन में अहम भूमिका निभायी है। पर्यावरणीय प्रबंधन में जनसहभागिता को बढ़ाने में कानूनी मदद भी इन संगठनों के स्तर पर ली गयी है। उदाहरण के लिये, थाईलैंड में 1997 में संविधान के अनुच्छेद 56 में प्राकृतिक संसाधनों और पर्यावरण के संरक्षण में सहभागिता को जनता का अधिकार माना गया। इसी तरह के प्रावधान फिलीपींस, न्यूजीलैंड (Resource Management Act), अजरबेजान (EPA 1999) और आस्ट्रेलिया में Australian Landcare and Coast Care programmes में किये गये हैं।

माइकल ब्रेटन बताते हैं कि सिविल सोसायटी राज्य और वहां के निवासियों के बीच सामाजिक संवाद का माध्यम है। सामुदायिक समन्वय, स्वयंसेवी के तौर पर कार्य और जनता से संचार का वृहद नेटवर्क इसके गुण हैं (Bratton, 1994). सिविल सोसायटी शब्द का इस्तेमाल अकसर उन लोगों, संस्थानों, संगठनों को वर्गीकृत करने में किया जाता है, जिनका लक्ष्य विचारों, क्रियाओं, मांगों के जरिये सरकार तक आम जनता की बातें पहुंचाने का होता है (Cohen and Arato, 1992). सिविल सोसायटी की सदस्यता विविधतापूर्ण होती है, जिसमें व्यक्तिगत से लेकर धार्मिक, शैक्षिक संस्थान, किसी एक खास मुद्दे पर केन्द्रित समूह, गैरलाभकारी अथवा गैरसरकारी संगठन शामिल होते हैं। गैरसरकारी या स्वयंसेवी समूह इनमें से सबसे प्रमुख कारक है। गैरसरकारी संगठन उन व्यक्तियों का समूह हैं विभिन्न कारणों से जुड़ते हैं और मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का रास्ता तय करते हैं। इनकी स्थापना मानवाधिकार जैसे किसी विशेष मुद्दे की पक्षधरता के लिये हो सकता है अथवा वे आपदा राहत जैसे जमीनी कार्य करने का लक्ष्य लिये हुये हो सकते हैं। इनकी सदस्यता भी स्थानीय से लेकर वैश्विक तक हो सकती है (Charnovitz, 1997: 186)

पर्यावरणीय निगरानी से जुड़े गैरसरकारी संगठन उच्च विविधता वाले हैं, जिनमें स्थानीय, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समूहों की लंबी श्रृंखला मिलती है जो पर्यावरण संरक्षण, सतत विकास, निर्धनता उन्मूलन, वन्यजीव संरक्षण, पशुकल्याण जैसे विभिन्न मुद्दों पर काम करते हैं। एजेंडा 21 में सिविल सोसायटी की विविधता और मूल्य का आधिकारिक अंतर्शासनीय प्रक्रियाओं में महत्व स्पष्ट किया गया है, जिसे 1992 में रियो अर्थ समिट में प्रस्तुत सतत विकास का खाका या ब्लूप्रिंट माना जाता है। इस दस्तावेज में हालांकि सिविल सोसायटी शब्द का इस्तेमाल नहीं किया गया है, लेकिन यह इस तरह के लोगों, समूहों के महत्व को स्वीकारता है और इन्हें अहम हिस्सा मानता है।

हालांकि, अलग–अलग देशों में जनसहभागिता समूहों की प्रकृति, उनके काम के तरीकों, विविधताओं,

राजनीतिक–सांस्कृतिक उद्देश्यों, सामाजिक–आर्थिक विकास स्तरों में खासा अंतर नजर आता है। उदाहरण के लिये, भारत में समुदाय आधारित हजारों गैरसरकारी संगठन कार्यरत हैं, जबकि सिंगापुर में 40 ग्रीन ग्रुप सिंगापुर इन्वायर्नमेंट काउंसिल के अंतर्गत काम करते हैं, जिसका गठन सरकार ने पर्यावरणीय समस्याओं के निस्तारण के मकसद से किया था (SEC 1998). हाल के वर्षों में पर्यावरण के क्षेत्र में काम करने वाली गैर सरकारी संस्थाओं के कार्यक्षेत्र में और विस्तार आया है। अब वे सिर्फ पर्यावरणीय दिक्कतों के समाधान के लिये ही आवाज नहीं उठाती हैं, बल्कि इससे कहीं अधिक विभिन्न मानवीय आवश्यकताओं के पहलुओं से जुड़े मसलों तक उनकी पहुंच बढ़ी है और वे दबाव समूह यानी pressure groups की भूमिका में भी नजर आती हैं। उनकी गतिविधियों में अब पर्यावरणीय निगरानी के अलावा, पर्यावरणीय शिक्षा, क्षमता–कौशल विकास और प्रशिक्षण, परियोजनाओं की स्थापना, सरकार के साथ पार्टनरशिप के तौर पर काम करना, पर्यावरण संरक्षण को लेकर क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग हासिल करना आदि शामिल हैं। कई संस्थाएं संरक्षित क्षेत्रों में व्यावहारिक प्रबंधन के काम से जुड़ी हैं और सामुदायिक व व्यक्तिगत गतिविधियों को प्रोत्साहन देते हुए सरकार अथवा कारपोरेट सेक्टर के स्तर पर उत्तरदायित्व की भूमिका भी निभा रही हैं। आज के दौर में अधिकतर गैरसरकारी संगठन पर्यावरण और विकास दोनों मुद्दों पर साथ काम करते हैं और उनका मानना है कि पर्यावरणीय समस्याओं की एक बड़ी वजह आर्थिक तथा सामाजिक तंत्र है (Oh 1998).

कई संस्थाओं के अभियान उन शोधों पर आधारित हैं जो विशेष पर्यावरणीय मुद्दों को उभारते हैं। स्थानीय और सामुदायिक स्तर पर गैरसरकारी संस्थाएं विभिन्न महत्वपूर्ण मसलों को समझने, उनकी निगरानी कर पाने में सक्षम हैं। इस तरह ये संस्थाएं सरकारी संस्थानों के कामों में कमी को पूरा करते हैं और अधिकरणों का सहयोग करते हैं। नीतियों के निर्माण में भी इनकी बड़ी भूमिका है, क्योंकि गैरसरकारी संस्थाओं के समुदायों में सक्रिय रहने के चलते उन्हें यह मालूम होता है कि नीतियां कहां कमजोर पड़ रही हैं और कहां क्या जरूरी सुधार किया जाना चाहिये। वे जनता, निजी सेक्टर और सरकार के लिये सूचनाएं–जानकारियां जुटाने का भी बड़ा माध्यम हैं। अभियानों के संचालन और सामाजिक कार्यकर्ताओं को जुटाने में भी उनकी बड़ी भूमिका है। विभिन्न गैरसरकारी संस्थाओं के कार्यों को हम निम्नवत समझ सकते हैं:

- **जागरूकता, अभियान एवं पक्षपोषण:** वैज्ञानिक एवं तकनीकी गैरसरकारी संगठन नागरिकों, विज्ञान एवं नीति निर्माताओं के बीच रिक्त स्थान को भरने का काम करते हैं। उनके शोध एवं शैक्षिक कार्य नीति निर्माण और निर्णय प्रक्रिया को और अधिक सकारात्मक रुख दे पाने में सक्षम होते हैं। उदाहरण के लिये भारत में सेंटर फॉर साइंस एंड इन्वायर्नमेंट 'Citizen's Reports on the Environment' का नियमित प्रकाशन करता है, जिसमें शहरी प्रदूषण, खाद्य प्रबंधन जैसी समस्याओं को प्रमुखता दी जाती है। विशेष बात यह होती है कि बेहद सामान्य और गैर तकनीकी भाषा में प्रस्तुत की जाने वाली रिपोर्ट आम जनता के लिये भी समझने में आसान होती हैं। कई संस्थाएं विभिन्न राष्ट्रीय मुद्दों पर अभियानों के संचालन, जागरूकता प्रसार, मीडिया और अन्य माध्यमों से प्रचार का काम करती हैं।

- **पर्यावरणीय निगरानी व जानकारी जुटाना:** कई गैरसरकारी संस्थाओं के अभियान शोध आधारित होते हैं, जो विशिष्ट पर्यावरणीय मुद्दों की निगरानी करती हैं। स्थानीय और सामुदायिक स्तर पर ऐसी संस्थाएं अहम मसलों की सतत निगरानी का काम करती हैं। इसके जरिये वे सरकारी

संस्थाओं तथा अन्य अधिकरणों के साथ भी सहयोगी की भूमिका में रहती हैं।

- **शिक्षा, प्रशिक्षण व क्षमता विकासः** कई गैरसरकारी संस्थाएं संरक्षणात्मक गतिविधियों में सामुदायिक सहभागिता बढ़ाने के लिये शिक्षा को माध्यम बनाती हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरणीय शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाली एक प्रमुख संस्था International Union for the Conservation of Nature and Natural resources (IUCN) है। यह संस्था Commission on Education and Communication (CEC) के जरिये यह काम करती है, जिसका मकसद शिक्षकों को आवश्यक सूचनाएं–जानकारियां, प्रशिक्षण देकर उन्हें पर्यावरणीय विशेषज्ञ बनाने में मदद करना है (CEE 1997). अन्य कई संस्थाएं सरकार के साथ मिलकर राष्ट्रीय पर्यावरणीय शैक्षिक नीतियों को तैयार करने और इन्हें लागू करने में मदद करती हैं। उदाहरण के लिये, नेपाल में गैरसरकारी संस्थाओं ने पर्यावरणीय शिक्षा को बढ़ावा देने के लिये सरकार से समन्वय किया है और राष्ट्रीय संरक्षण नीति को लागू करवाने में मदद करती हैं। ये संस्थाएं अपने स्तर पर विभिन्न कार्यक्रम संचालित कर सरकारी संस्थानों को तकनीकी मदद दे रही हैं।

- **सरकार एवं गैरसरकारी संस्थाओं की साझेदारीः** सरकारों और गैरसरकारी संस्थाओं के मध्य विभिन्न मुद्दों को लेकर साझेदारी विकसित हुयी है। कुछ देशों में विकास प्रक्रिया, नीति निर्माण तथा नियोजन में सामुदायिक और सामूहिक सहभागिता को सुनिश्चित करने के लिये कानूनों की व्यवस्था कीग यी है। उदाहरण के लिये, थाईलैंड में 1992 Environment Act प्रादेशिक और स्थानीय निकायों में पर्यावरणीय प्रबंधन का काम करने के साथ पर्यावरणीय गैरसरकारी संस्थाओं के माध्यम से जनसहभागिता को भी प्रोत्साहित करता है (Government of Thailand 1992). जब सरकारें निर्णय प्रक्रिया में जनसहभागिता को स्थान देने के लिये औपचारिक नीतियां तय करती हैं, तो गैरसरकारी संस्थाओं का प्रभाव और उनकी क्षमता में भी बढ़ोतरी होती है। उदाहरण के लिये, फिलीपींस में EIA के जरिये नियंत्रण, Mining Act और Indigenous Peoples Rights Act के जरिये पारंपरिक लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने के प्रयास किये जाते हैं। अधिकतर मामलों में आम लोगों के पास विभिन्न मुद्दों को लेकर सूचनाओं तक बेहतर पहुंच का अभाव होता है। ऐसी स्थिति में गैरसरकारी संस्थाएं जनता तक जानकारियां पहुंचाने, उनके सुझाव लेने, उन्हें सलाह देने, सरकार से उनके पक्ष में वार्ता करने तथा व्यवस्थागत नीतियां तैयार करने में मददगार बनती हैं।

2.7: महिलाओं की भूमिका (Role of Women)

पर्यावरणीय प्रबंधन एवं विकास में महिलाओं की अति महत्वपूर्ण भूमिका है। सतत विकास का लक्ष्य हासिल करने के लिये उनकी पूण सहभागिता अनिवार्य होती है। पारंपरिक रूप से महिलाएं जल, भोजन, ईंधन, चारे, पर्यावास जैसी बुनियादी जरूरतों के अस्तित्व तथा आजीविका के साधनों के संरक्षण का जिम्मा निभाती रही हैं, लेकिन जीवनाधार से जुड़ी इन जरूरतों को बचाये रखने का श्रेय उन्हें कम ही दिया जाता है। पुरुषों के मुकाबले महिलाओं की समस्याओं को समझ पाना भी जटिल होता है। ऐसे में समुदायों, महिलाओं तथा प्राकृतिक संसाधनों के बीच समन्वय, सहजीविता को पुनर्स्थापित करना तथा

मौजूदा विकास कार्यक्रमों के नकारात्मक असर को कम करना चुनौती बन जाता है। महिलाएं हमेशा से जैवविविधता की मुख्य संरक्षक रही हैं। यहां तक कि आज भी वे बीज चयन, संरक्षण जैसे दायित्व निभाती हैं। पारंपरिक ग्रामीण एवं आदिवासी समुदायों में महिलाएं आज भी कृषि कार्यों में अगुवा हैं और उन्हें कृषि–जैवविविधता की बेहतर जानकारी होती है।

दुर्भाग्य से, विशेषकर पर्वतीय क्षेत्रों में, खाद्य सुरक्षा तंत्र सीमित फसलों पर निर्भर करता है। ऐसे में पारंपरिक ग्रामीण परिवारों–महिलाओं द्वारा सहेजकर रखी जाने वाली प्रजातियों, खाद्य–अनाज पौधों को विस्तार देना आवश्यक है। पारंपरिक रूप से महिलाएं निगरानी से बाहर रहने वाले तथा आजीविका में उपयोगी जैविक उत्पादों, जैसे ईंधन की लकड़ी, गोबर, भूसा, जैविक खाद आदि के जरिये आर्थिकी को स्थिर बनाये रखने में मददगार होती हैं। दूसरी ओर, पुरुष आय कमाने के मकसद से प्रकृति को नुकसान पहुंचाने से भी पीछे नहीं रहते। खास बात यह है कि महिलाएं पारिवारिक खेतों में अवैतनिक मजदूरी करती हैं और घरों से जुड़े निर्णयात्मक कार्यों में उनकी अहम भूमिका होती है। आबादी में लगातार बढ़ोतरी ने पर्वतीय क्षेत्रों से पुरुषों का पलायन बढ़ाया है, इससे यहां परिवारों तथा कृषि की पूरी जिम्मेदारी महिलाओं पर आ गयी है। दुनियाभर के विकासशील क्षेत्रों में महिलाओं को जल, भूमि और वनों जैसे प्राकृतिक संसाधनों का प्रथम उपयोगकर्ता माना जाता है, क्योंकि भोजन, ईंधन और चारे के लिये वे इन पर निर्भर होती हैं। यद्यपि अधिकतर महिलाएं भूमि और खेतों की मालिक नहीं होतीं, वे सिर्फ परिवार की आजीविका के लिये जीवनभर खेतों में काम करती रहती हैं।

अपनी इन जिम्मेदारियों को बेहतर ढंग से निभाने के लिये महिलाओं के लिये मिट्टी, पौधों–पेड़ों के बारे में और अधिक जानकारी हासिल करना आवश्यक होता है और यह तथ्य भी जानना जरूरी होता है कि इनका दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिये। हालांकि, तकनीकी मदद से पुरुषों की भूमि में सहभागिता बढ़ती है, लेकिन अधिकतर पुरुष खेती का काम छोड़कर नौकरी की तलाश में शहरों की ओर निकल जाते हैं, जिससे महिलाओं की खेती की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। इससे ग्रामीण महिलाओं का जमीन और प्राकृतिक संसाधनों से गहरा संबंध स्थापित हो जाता है, जो प्राकृतिक संसाधनों के उचित दोहन, संरक्षण, पर्यावरणीय संवर्द्धन की ऐसी संस्कृति को विकसित करता है, जिससे भावी पीढ़ियों की जरूरत के मुताबिक इनकी उपलब्धता को सुनिश्चित करता है। उचित कृषि उत्पादन और मानवीय पोषण के लक्ष्य को हासिल करने के लिये महिलाओं की जमीनों तक पहुंच जरूरी होती है। पुरुषों के मुकाबले पर्यावरण के संबंध में महिलाओं के दृष्टिकोण और मूल्य बेहद अलग होते हैं। महिलाएं प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, क्षमता संवर्द्धन, कृषि भूमि के प्रबंधन और प्रकृति तथा पर्यावरण के भविष्य की चिंता करती हैं। विभिन्न शाोधकार्यों से यह स्पष्ट हुआ है कि पर्यावरण में महिलाओं का हिस्सा होता है, जो उन श्रेणियों के तौर पर सामने आता है, जिनके आधार पर वे प्राकृतिक संसाधनों की चिंता करती हैं। Ecofeminism शब्द महिलाओं के पर्यावरण के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। यह ऐसी स्थिति है, जिसमें संसाधनों से वंचित लोगों, महिलाओं के शोषण को उभारता है और उन्हें प्राकृतिक संसाधनों तक पहुंच के अवसर प्रदान करने के साथ इन लोगों को प्रकृति के संरक्षण के लिये प्रेरित भी करता है।

मौजूदा वैश्विक परिदृश्य में महिलाएं सतत संघर्ष कर रही हैं, लेकिन अच्छा पहलू यह है कि वे प्रभावी परिवर्तन के लिये सामूहिक तौर पर काम करती हैं। घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठनों की स्थापना के जरिये कई महिलाओं ने अपने अधिकारों को जाना है और यह समझा है कि वैश्विक परिदृश्य में वे किस तरह अपनी सहभागिता सुनिश्चित करते हुये पर्यावरणीय आवश्यकताओं की पूर्ति संबंधी प्रक्रियाओं में काम कर सकती हैं। वे पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों का महत्व अच्छी तरह समझती हैं। यही वजह है कि पर्यावरणीय नुकसान, वनों के कटान, प्रदूषण जैसे मसले पुरुषों के मुकाबले महिलाओं को प्रत्यक्ष तौर पर अधिक प्रभावित करते हैं। इसके चलते वे पर्यावरणीय मुद्दों के प्रति अधिक चिंतित भी नजर आती हैं।

महिलाओं और पर्यावरण के विषय से जुड़ा एक बड़ा अभियान Green Belt Movement है। नोबल

पुरस्कार विजेता वंगारी मथाई ने जून 1977 में विश्व पर्यावरण दिवस के दिन इस अभियान की शुरुआत की थी। प्रारंभिक आयोजन बेहद साधारण था। केन्या के नैरोबी स्थित प्रो. मथाई के घर के आंगन में कुछ महिलाओं ने सात पौधे रोपे, लेकिन यह धीरे–धीरे पूरे क्षेत्र में प्रचलित होता चला गया। वर्ष 2005 तक 30 हजार पौधे महिलाओं द्वारा रोपे गये थे, जो संख्या अब तक 51 लाख से अधिक हो चुकी है। खास बात यह है कि इस अभियान के तहत अब तक 30 हजार से अधिक महिलाओं को प्राकृतिक, पर्यावरणीय पहलुओं, कृषि आदि पहलुओं का प्रशिक्षण दिया जा चुका है, जो समाज के आर्थिक विकास का जरिया भी बना है।

2.8: हितधारकों की भूमिका (Stakeholder's Role)

स्वस्थ पर्यावरण और पारिस्थितिकी संतुलन हर किसी की चिंता है। लोगों में पर्यावरण के प्रति जागरूकता बढ़ाने के लिये विभिन्न हितधारकों अथवा साझेदारों की आवश्यकता होती है। इनमें जनता, मीडिया, पर्यावरणीय समूह, कॉरपोरेट सेक्टर, सरकारें शामिल होती हैं। वैज्ञानिक समुदाय पारिस्थितिकी समस्याओं की पहचान कर इनके कारणों–प्रभावों को उजागर करते हुये जनसहभागिता बढ़ाने और राजनीतिक निर्णय ले पाने के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण में अहम भूमिका निर्वहन करता है। यद्यपि वैज्ञानिक राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय नीतियों के विकास के लिये आवश्यक सूचनाएं उपलब्ध कराने का माध्यम होते हैं, लेकिन गैरसरकारी संगठन जनता, वैज्ञानिक समुदाय और सरकारों के मध्य आवश्यक जोड़ की तरह काम करते हैं। वे नयी वैज्ञानिक जानकारी के प्रसार, जनता की जरूरतों को एक से दूसरे पक्ष तक पहुंचाने और मीडिया के माध्यम से बुनियादी जरूरतों के प्रकाशन को सुनिश्चित करने का काम करते हैं। बुनियादी तौर पर उनकी मौजूदगी और स्थिति सरकारों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को स्थानीय परिस्थितियों के हिसाब से काम करने के प्रति जागरूक करती है और सतत विकास तथा सार्वजनिक नीतियों के रास्ते में सामने आने वाली बाधाओं की जानकारी देती है।

वैज्ञानिक और तकनीकी समुदाय की विशेषज्ञ के तौर पर भूमिका राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचानी जाती है। गैरसरकारी संगठनों की विशेषज्ञता को अनौपचारिक तथा कुछ कमतर माना जाता है। सामान्य तौर पर गैरसरकारी संस्थाएं सरकारों को वे सूचनाएं उपलब्ध कराती हैं, जो उनके पास पहले से उपलब्ध सूचनाओं से तुलनात्मक अध्ययन करने में मददगार हों। इस तरह गैरसरकारी संगठन विभिन्न सरकारों में विश्लेषणात्मक प्रक्रियाओं, नये विचार, नये प्रस्ताव देने का माध्यम बनती हैं। कई बार यह जानकारियां उन जटिल क्षेत्रों से जुड़ी होती हैं, जहां सरकारी प्रतिनिधि नहीं पहुंच पाते हैं या वहां की विशेषज्ञ जानकारियां उनके पास नहीं होतीं। ऐसे में गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा जुटाये गये आंकड़े और जानकारियां सरकारी नीतियों के निर्माण और उन्हें लागू कर पाने में मददगार होती हैं। गैरसरकारी संगठन उन क्षेत्रों में भी स्वतंत्र रूप से काम करते हैं, जहां राजनीतिक अथवा कूटनीतिक कारणों से सरकारी संस्थाओं के लिये काम कर पाना संभव नहीं हो पाता। गैरसरकारी संस्थाएं उन कमजोर सरकारों को भी मदद कर सकती हैं, जो अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरणीय विमर्शों में अन्य सरकारों के साथ बराबरी का कदम रख पाने में अक्षम नजर आती हैं। इस स्थिति में गैरसरकारी संगठन ऐसी सरकारों को सूचनाएं–जानकारियां, शोध–विश्लेषण, रिपोर्ट आदि उपलब्ध कराकर उन्हें नवीनतम जानकारी उपलब्ध कराकर असमानता को दूर करने में मदद के अलावा वैश्विक विमर्श में बेहतर उपस्थिति दर्ज कराने के लिये क्षमतावान भी बनाती हैं। इनके जरिये ये देश वैश्विक स्तर पर अपनी कमजोर आर्थिक स्थिति को स्पष्ट कर पाने में सक्षम हो पाते हैं। गैरसरकारी संगठनों की विशेषज्ञता विमर्श की गुणवत्ता को बढ़ाती हैं और अंतरसरकारी मंचों पर राज्य की ओर से नीति निर्माण में भी इससे खासी मदद मिलती है।

विकास की बहुआयामी नीतियों, अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरणीय नियमों के विकास में साझेदारों की सक्रियता का अहम योगदान है। वैज्ञानिक और तकनीकी समुदाय सिर्फ समस्याओं को ही नहीं उभारते, बल्कि इनके समाधान की तलाश भी करते हैं। निजी सेक्टर अपने तकनीकी साधनों और आर्थिक हितों के साथ विकास प्रक्रिया में शामिल होता है। निजी सेक्टर के वित्तीय, तकनीकी संसाधनों की मदद से व्यावहारिक समाधान को तय करना आसान हो सकता है। यद्यपि आर्थिक शक्ति और राजनीतिक संबंधों के जरिये यह नयी पर्यावरणीय नीतियों के विकास को अवरुद्ध भी कर सकता है, क्योंकि इन नीतियों में लागू होने वाले कई नियम इसके लक्ष्यों की पूर्ति में बाधा बन सकते हैं। यहां यह जानना दिलचस्प है कि कई निजी सेक्टर अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरणीय निगरानी कार्यों को लेकर अलग–अलग नीति अपनाते हैं। सार्वजनिक नीतियों के विरोध और अपने विकास के लिये व्यावसायिक संयोजन बढ़ते हैं। गैर सरकारी संगठन विमर्श प्रक्रिया में विशेषज्ञता और सक्रिय सहभागिता निभाते हैं।

सभी साझेदारों–हितधारकों को राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय नीतियों को लागू करने में अपनी–अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करना होता है। कई अंतरसरकारी संस्थान विकास प्रक्रिया और मानवीय सहायता की दिशा में अपने अभियानों में गैरसरकारी संगठनों का सहयोग लेते हैं। विभिन्न परियोजनाओं में क्षेत्रीय, स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय गैरसरकारी संगठन मदद करते हैं। उदाहरण के लिये United Nations Development Programme (UNDP) अपनी विभिन्न परियोजनाओं के लिये गैरसरकारी संगठनों को जिम्मेदारी देता है। इसी तरह विश्व बैंक की ओर से संचालित Global Environment Facility (GEF) में दुनियाभर में सात सौ से अधिक गैरसरकारी संगठन कार्यरत हैं। ये सेवाप्रदाता और परियोजनाओं के संचालन में मदद करते हैं। हालिया परिवर्तन यह हुआ है कि निजी सेक्टर ने भी बहुआयामी पर्यावरणीय समझौते किये हैं। उदाहरण के लिये, क्योटो प्रोटोकॉल में वर्णित तरीकों से व्यावसायिक गतिविधियों में स्वच्छता विकास तंत्र को स्थापित किया जा रहा है।

2.9: सन्दर्भ (References)

- Handbook "Steps and methods to mobilizing community" Published by: Facilicom Consult, Simon Koolwijk Nijmegen, 4th January, 2003
- A Community-based Approach in UNHCR Operations First edition, January 2008
- NGO input and stakeholder participation in natural resource management: Example of North west Cameroon Ndenecho Emmanuel Neba, January 2009
- Guide to Community Mobilization for PAIMAN
- Guiding Principles of Community Mobilization 2009
- http://www.vigyanprasar.gov.in/Radioserials/12women_&_environment.pdf
- http://www.unescap.org/sites/default/files/CH14.PDF
- Doc. A/CONF.48/PC.9, 26 February 1971, p. 39, § 107 (our italics).
- James A. Paul, "NGOs and Global Policy-Making", Global Policy Forum, June 2000.

- United Nations Development Programme, "UNDP Procedures for Project Execution by NGOs", 1998.
- Global Environment Facility, GEF …Dynamic Partnerships. Real Solutions, Washington, 2002, p. 13.
- M. Pallemaerts, "Is Multilateralism the Future? Sustainable Development or Globalisation as 'A Comprehensive Vision of the Future of Humanity'", Environment, Development and Sustainability, 2003, pp. 275-295.
- ECOSOC, Resolution 2003/61 of 25 July 2003, Doc. E/2003/INF/2/Add.4, p. 159, § 22-23.
- J. Nelson, Building Partnerships: Cooperation between the United Nations System and the Private Sector, United Nations, New York, 2002.

इकाई 3
पर्यावरण-आध्यात्मिकता और संरक्षण नीतिशास्त्र

3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 मानव और पर्यावरण सम्बन्धी अवधारणाएं
3.4 पर्यावरणीय नीतिशास्त्र
3.5 संरक्षण नीतिशास्त्र- सभी संसाधनों का न्यूनतम व्यय ही नैतिकता है।
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर
3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन् के उपरांत आप

- मानव और पर्यावरण के बीच संबंध कों समझा सकेगे।
- संरक्षण नीति शास्त्र के बारे में विस्तार से बता सकेगे।

3.2 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में मानव और पर्यावरण के बारे में अभी तक उभरी हुई कई अभिव्यक्तियाँ, परम्पराएं, समझ एवं अवधारणाओ के बारे में बताया गया है। इसके साथ साथ पर्यावरणीय नीतिशास्त्र के अंतर्गत संरक्षण नीति शास्त्र के बारे में विस्तार से बताया गया है जोकि सभी संसाधनों का न्यूनतम व्यय ही नैतिकता मानता है।

3.3 मानव और पर्यावरण सम्बन्धी अवधारणाएं

पर्यावरण-**आध्यात्मिकता के अंतर्गत पर्यावरणीय दृष्टिकोण के साथ आध्यात्मिक दृष्टिकोण को भी व्यक्त किया जाता है** अर्थात यह **मानव और पर्यावरण के बीच आध्यात्मिक सम्बन्ध की एक अभिव्यक्ति है।** मानव और पर्यावरण के बारे में अभी तक कई अभिव्यक्तियाँ, **परम्पराएं**, समझ एवं अवधारणाएं विकसित हों चुकी है। **यह न केवल एक प्रकार की धारणा है बल्कि यह विभिन्न प्रकार की धारणाओं** (नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, अज्ञेयवादी, **रुझानों और कार्यों**) की श्रृंखला है। **मानव और पर्यावरण सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाए निम्नलिखित प्रकार की है**-नियतिवादी अवधारणा, सम्भाव्यवादी अवधारणा, नव नियतिवादी अवधारणा, स्वैच्छिकवादी अवधारणा, **आदर्शवादी** अवधारणा और परिस्थिति विज्ञान-संबंधी अवधारणा। **मानव और पर्यावरण सम्बन्धी इन विभिन्न अवधारणाओं का विवरण इस प्रकार है-**

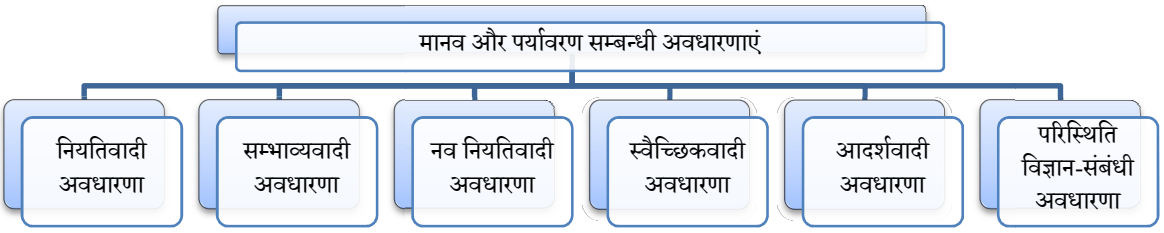

1. **नियतिवादी अवधारणा-** यह मानव को पर्यावरण का ही एक अंग मानता है। नियतिवादी भूगोलवेत्ता **ह्मबोल्ट और रिटर** ने मानव जीवन को प्रकृति पर पूर्णरूपेण निर्भर माना है। जिसमे प्रकृति को नियंत्रक एवं सर्वशक्तिमान मौर मानव को प्रकृति के हाथों का खिलौना कहा गया है।
2. **सम्भाव्यवादी अवधारणा**- सम्भाव्यवादी भूगोलवेत्ताओं **विडाल-डि-ला- ब्लाश, ब्रूंज** और **डिमान्जियाँ** ने मानव को पर्यावरण का एक सक्रिय अंग मानते हुए कहते है कि मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त कर चुका है और वह प्रकृति में हर प्रकार का परिवर्तन कर सकता है। प्रकृति में हर प्रकार का परिवर्तन को करने के लिए बस उसके पास इच्छा शक्ति, जरुरी पूँजी और तकनीकी दक्षता होनी चाहिए।
3. **नव नियतिवादी अवधारणा**- नव नियतिवादी अवधारणा दोनों ही अतिवादी अवधारणाओं का खण्डन करती है। नव नियतिवादी भूगोलवेत्ताओं **ग्रिफिथ टेलर** और **ओ. एच. के. स्पेट** ने प्रकृति की एक पक्षीय दोहन की आलोचना की और बताया कि प्रकृति का अत्यधिक दोहन विनाशकारी हो सकता है। उन्होंने प्रकृति के संदर्भ में 'रुको और जाओं' की नीति अपनाने को कहा और बताया कि प्रकृति की अपनी सुंदरता है, अपनी सीमाएँ है। हमें प्रकृति को ध्यान में रख कर ही विकास नीति का निर्माण करना चाहिए। सतत विकास अवधारणा इसी अवधारणा से संबंधित है।
4. **स्वैच्छिकवादी अवधारणा**- इस अवधारणा के अनुसार मानव पर्यावरण को संभावित स्थिति तक परिवर्तित कर सकता है।

5. **आदर्शवादी अवधारणा**- इस अवधारणा में मानव और पर्यावरण के अन्तर-सम्बन्धों को 'सर्वोतम' अथवा 'आदर्श' स्थिति के रूप में प्रतिपादित किया गया है।
6. **पारिस्थिति विज्ञान-संबंधी अवधारणा**- इस अवधारणा में मानव को पारिस्थितिकि-तंत्र का एक अंग मानते हुए पर्यावरण के साथ उसके सम्बन्ध को पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण के अंतर्गत शामिल किया गया है।

3.4 पर्यावरणीय नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र की ही एक शाखा है जो मूल रूप से यह बताने का प्रयास करती है कि क्या सत्य है और उसका यह विश्लेषण सांस्कृतिक भिन्नताओं से अलग होता है। इसी प्रकार पर्यावरणीय नीतिशास्त्र, जन-जागरूकता की उस नींव पर आधारित है जिसमें यह माना जाता है कि मानव प्रकृति का अंग है और मानव और प्रकृति दोनों में ही अन्तनिर्भरता पाई जाती है।

पर्यावरण के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण पाए जाते है, इन्हें हम तीन वर्गों में बांटा जा सकता है- विकासात्मक, परिरक्षण और संरक्षण।

1. **विकासात्मक नीतिशास्त्र**- यह दृष्टिकोण कार्य पर आधारित है। इसकी मान्यता है कि मानव प्रकृति का स्वामी है तथा पृथ्वी और इसके संसाधन मानव जाती की सुख- सुविधा के लिए है। अत: मानव को 'कार्य भावना' के आधार पर विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।
2. **परिरक्षण नीतिशास्त्र**- यह दृष्टिकोण प्रकृति को विशिष्ट मानकर चलता है। परिरक्षक, यह मानकर चलते है कि मानव को प्रकृति से बहुत कुछ सीखना है। विलुप्त होती प्रजातियों, पारिस्थितिक तंत्र और उनकी दूरगामी उपयोगिता के कारण ही परिरक्षणा अति महत्त्वपूर्ण है।
3. **संरक्षण नीतिशास्त्र**- संरक्षण नीतिशास्त्र का सम्बन्ध वैज्ञानिक परिरक्षकों से है। यह नीतिशास्त्र सर्वभौमिक और सार्वकालिक है। यह विचार समग्र विकास और समग्र संरक्षण के मध्य संतुलन पर जोर देता है।

3.5 संरक्षण नीतिशास्त्र:- सभी संसाधनों का न्यूनतम व्यय ही नैतिकता है। **(Morality means minimum wastage of all resources.)**

मानव जाति का जन्म होते ही उसे भूख लगी जिसके लिये उसे भोजन की आवश्यकता हुई, फिर शरीर को ढ़कने की आवश्यकता महसूस हुई, फिर जानवरों से बचने के लिये घर की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ से ही मानव जाति इन संसाधनों पर निर्भर होता रहा है। पहले तो वह निर्भर रहा, परन्तु फिर उसने धीरे-धीरे ज्ञान का विकास हुआ फिर उसनें इन संसाधनों पर अपना आधिपत्य जमा लिया है।

आओ आज संसाधनों पर कुछ विचार करे परन्तु क्या सभी व्यक्तियों को मालूम है कि संसाधन किसे कहते है? उनका रंग, रुप कैसा होता है?

कुछ व्यक्तियों को तो सिर्फ यह मालूम है कि संसाधन केवल पेट्रोल, डीजल, कोयला ही होता है। परन्तु नही संसधान केवल खनिज पदार्थ ही नही होते है। यह पर्यावरण जिसमें हम रहते हैं और इस पर्यावरण में होनें वाली वनस्पति, जीव-जन्तु, मृदा, जल, खनिज, शक्ति व मानव हमारे संसाधन है जिन्हे प्रकृति ने हमें एक सम्पदा के रुप में दिया है। मनुष्य पर्यावरण के अनेक तत्वों का उपयोग अपने आराम तथा विकास के लिये करता है। कुछ उपयोगी तत्व प्रकृति के ऐसे उपहार है, जिन्हे मनुष्य स्वयं पैदा नही कर सकता।

मैकनाल के अनुसार *"पर्यावरणीय संसाधन उन संसाधनों को कहते है जो प्रकृति द्वारा प्रदान किए जाते है और मनुष्य के लिए उपयोगी होते है।"*

जिम्मर मौन के अनुसार *"संसाधन पर्यावरण की वे विशिष्ट आकृतियाँ है जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम होती है और मनुष्य अपनी आवश्यकताओं एवं क्षमताओं द्वारा उन्हे उपयोगिता प्रदान करते है।"*

प्राकृतिक सम्पदा का अपना विशेष आर्थिक महत्व है। वे हमारी कृषि सम्बन्धी गतिविधियों के मुख्य साधन है। वे हमारे उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराते है। हमारी सभी व्यापारिक गतिविधियां प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रुप में उन पर निर्भर करती है। वे प्राकृतिक सौन्दर्य को बनाये रखते है और जैवमण्डल के विभिन्न जीवों के साथ संतुलन को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। अत: प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग उचित ढ़ग से किया जाना चाहिए ताकि वे समाप्त न हो और वो हमारी भावी पीढ़ी के लिए बने रहे।

1. वनस्पति:- वनस्पति हमारे प्राकृतिक संसाधनों के आधार का मेरुदण्ड है। जीव-जन्तु अपने जीवन के लिए पूर्णरुपेण वनस्पति जगत पर आश्रित है। जीव-जन्तु का जीवन पौधों द्वारा दी गई शक्ति अथवा भोजन पर ही निर्भर करता है। पौधे प्राकृतिक सौन्दर्य में वृद्धि करते है। पौधे, मनुष्य को भोजन, फल, फूल व अनेक प्रकार की जडी बूटियाँ प्रदान करते है। प्राकृतिक वनस्पति के आवरण में वन, घास, भूमियाँ तथा झाडियाँ सम्मिलित है। भारत में चार प्रकार के वनस्पति पाई जाती है।

i. उष्ण कटिबंधीय वर्षा वन
ii. उष्ण कटिबंधीय पर्णपाती वन
iii. कटीले वन व झाडियाँ
iv. ज्वारीय वन

प.जवाहर लाल नेहरु ने कहा है कि *"एक उगता हुआ वृक्ष राष्ट्र की प्रगति का जीवित प्रतीक है"*

जे. एस. कालिंस ने कहा है कि *"वृक्ष पर्वतों को थामे रखते है, तूफानी वर्षा को दबाते है तथा नदियों को अनुशासन में रखते है, वे झरनों को बनाए रखते है तथा पक्षियों का पोषण भी करते है"*

यदि मनुष्य ने अपने उपयोगों के लियें वृक्षों को काटना जारी रखा तो वर्षा में कमी आ जायेगी और भूमि बंजर हो जायेगी। इसके साथ-साथ पशु जगत जगत एवं वनस्पति जगत की बहुत सी नसलें भी सदा के लिए समाप्त हो जायेगी, जो आने वाली पीढ़ी के लिए अन्याय है। और केवल ये ही नही इससे वातावरण भी प्रदूषित होता है जिससे मानव अस्तित्व तक को खतरा हो सकता है।

इंदिरा गाँधी ने कहा है कि *"पेड़ मनुष्य के लगभग सबसे अधिक विश्वस्त मित्र है और जो देश अपने देश के भविष्य को सँवारना और सुधारना चाहता है, उसे चाहिए कि वह अपने वनों का अच्छी तरह ध्यान रखे।"*

पुनीता सेठी ने कहा है कि *"वन तथा वनों में रहने वाले जीव जंतु मानव के अभिन्न मित्र है क्योकि ये पर्यावरण के संतुलन को बनाये रखते है किंतु मानव उन्हे नष्ट कर पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ने पर तुला है।"*

2. **जीव-जन्तु:-** जितनी विविधता वनस्पति में है, उतनी ही विविधता हमारे देश के जीव-जंतुओं में भी है। हिमालय क्षेत्र में जंगली भेड़, पहाड़ी बकरी, बर्फीला चीता, जंगली बकरा, छछुन्दर, गैड़ा आदि भी मिलते है। भारत में अनेक किस्मों के बन्दर भी पाये जाते है।

भारत का पक्षी वर्ग भी बहूमूल्य तथा अनूठा है। भारत में पाये जाने वाले पक्षियों में मोर, बत्तख, कलहंस, तीतर, कबूतर, सारस आदि अधिक प्रसिद्ध है। भारत में मछलियों की 1500 किस्में पाई जाती है परन्तु पशु, पक्षियों एवं वन्य प्राणियों के अंधाधुन्ध शिकार से कई जातियाँ लुप्त हो गई है।

भारत में नंदा देवी (उ.ख.) नोक्रक (मेघालय), ग्रेट निकोबार, मन्नार की खाडी (तमिलनाडु), मानस (असम), सुन्दरवन (पश्चिम बंगाल), सिमिलीपाल (उड़ीसा), डिब्रु जैसे जीव आरक्षित क्षेत्र है। इन क्षेत्रों में प्रत्येक पौधे और जीव को संरक्षण दिया जाता है जिससे कि इन प्राकृतिक धरोहर को हमारी भावी पीढ़ियों को ज्यों का त्यों सौपा जा सकेगा।

बसंत लाल ने लिखा है "शेर का बच्चा- मम्मी। आपने उस हिरन को क्यों भाग जाने दिया? शेरनी- बेटे ! हम शेर है, मानव नहीं जो बिना भूख अकारण ही दूसरों की जान ले।"

3**. मृदा (मिट्टी):-** मृदा का निर्माण लाखों वर्ष में हुआ है। मूल शैलों के विखंडित पदार्थों से मिट्टी बनती है प्रकृति की अनेक शक्तियाँ जैसे परिवर्तनशील तापमान, प्रवाहित जल, पवन आदि इसके विकास में सहायता करते है। मिट्टी की परतों में होने वाले रासायनिक तथा जैव परिवर्तन भी इतने ही महत्वपूर्ण है। मिट्टी चार प्रकार की होती है- जलोढ़ मिट्टी, काली मिट्टी, लाल मिट्टी और लेटराइट मिट्टी। मिट्टी की विभिन्नता के कारण भारत की कृषि की उपज में भी विविधता पाई जाती है।

विलकोक्स के अनुसार *"मानव सभ्यता का इतिहास मिट्टी का इतिहास है तथा प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा मिट्टी से ही प्रारम्भ होती है।"*

4. **जल:-** भूमि की ही भांति, जल भी एक महत्वपूर्ण संसाधन है। हमारे देश भारत में जल का एक प्रमुख उपयोग सिंचाई में है। सिंचाई के द्वारा हमने ना केवल कृषि के क्षेत्र में वृद्वि की हैं अपितु इसकी उत्पादकता भी बढाई है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक तथा घरेलू उपभोग के लिए विशाल मात्रा में जल की आवश्यकता होती है। भारत की नदियाँ प्राचीन काल से ही यहाँ के आर्थिक तथा मानवीय विकास में महान योगदान करती है। यही कारण है कि हम भारतवासी नदियों को आदर की दृष्टि से देखते है इसीलिए प्राचीन ग्रन्थों मे कहा है-

"गंगे च यमने चैव, गोदावरी, सरस्वति।

नर्मदे, सिन्धु, कावेरी! जलेंऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।"

भारत में भाखड़ा नागल, कोसी, हीराकुंड बाँध, तुंगभद्रा, नागार्जुन सागर, चम्बल जैसी अनेकों जल परियोजनाएँ कार्य कर रही है। नदियाँ, जल संसाधन का सर्वोतम स्त्रोत है परंतु उसे भी मानव जाति ने इतना दूषित कर दिया है कि इस मुहावरे का अर्थ पूरा पलट गया है। "**गंगा तेरा पानी अमृत**।"

यदि जल न हो तो मनुष्य सूर्य की अत्याधिक गर्मी से बच ही नही सकता हैं। उसका सर्वनाश सम्भव हैं।

5. **खनिज**:- सभी प्राकृतिक संसाधन भूतल या उसके ऊपर ही नही पाये जाते। बहुत से संससाधन हमारी पृथ्वी के गर्भ में बहुत गहराई में छिपे हैं। इनमें से कुछ समुंद्र के अध: स्थल के नीचे भी दबे पडे है। देश का औद्योगिक विकास अधिकतर इन्ही खनिज संसाधनों पर आधारित है। भारत लौह संसाधनों में विशेष रूप से सम्पन्न हैं। भारत में लौह अयस्क और कोयले के भन्डार हैं। भारत बक्साइड और अभ्रक में भी सम्पन्न हैं परन्तु भारत में खनिज तेल और प्रकृति गैस का उत्पादन बहुत कम हैं। कोयला, खनिज तेल, आणिक खनिज ऊर्जा के प्रमुख स्त्रोत है। देश के विकास में खनिज संसाधनो का अपना विशेष महत्व है क्योकि मानव कि प्रगति में इनका बहुत अधिक योगदान रहा हैं। मानव इतिहास का विभाजन भी इसी बात का साक्षी है। पाषाण युग, कॉसा युग, लौह युग आदि इतिहास का विभाजन विभिन्न खनिजों के महत्व को कितना प्रभावशाली सिद्ध करता हैं।

6. **शक्ति:-** शक्ति के संसाधन दो प्रकार के होते है- परम्परागत और गैर-परम्परागत स्त्रोत्र।

परम्परागत स्त्रोत्र:- कोयले, तेल तथा प्राकृतिक गैस से उत्पन्न की गई ताप विधुत के स्त्रोत्र परम्परागत स्त्रोत्र है। इनका नवीनीकरण नही किया जा सकता है।

गैर-परम्परागत स्त्रोत्र:- सूर्य, वाय, ज्वार-भाटे, जियो- थर्मिल, बायो गैस, खेत और पशुओं का कुडा करकट, मनुष्य का मलमूत्र आदि उर्जा के अलौकिक स्त्रोत्र है। ये साधन अक्षय है, इन्हे गैर परम्परागत स्त्रोत्र कहते है। इनका नवीनीकरण किया जा सकता है। भारत में शक्ति के उन साधनों के संरक्षण की बढ़ती आवश्यकता है जि नाशवान है और जिनका एक बार प्रयोग करनेके बाद दोबारा प्रयोग में नही लाया जा सकता है। कोयला और तेल आदि दोनो ही शक्ति संसाधन

है। जिनका संरक्षण कर्ना बड़ा आवश्यक है ताकि भविष्य में इनका प्रयोग काफी लम्बे समय तक किया जा सके। इनके स्थान पर जल से बनी शक्ति का प्रयोग अधिक से अधिक करना चाहिए क्योकि यह स्रोत्र कभी समाप्त होने वाला नही है। जल शक्ति के लिए सरकार ने कई परियोजना शुरु की है जैसे- टिहरी जल शक्ति, नर्मदा घाटी विकास, रिहंद, शरावली, कुंड, सबरिगिरि।

संसाधनों की समस्याओं का निदान केवल कानून बनाकर ही नही हो सकता है। यह समस्या हथियारों और और शक्ति के बल पर भी दूर नही हो सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि समाज की मानसिकता को बदला जाए और उन्हे इसकी तरफ जागरुक किया जाये। जब समाज का प्रत्येक सदस्य संसाधनों का न्यूनतम व्यय करने के लिए कृतसंकल्प और कटिबद्ध हो जाएगा तभी इसका निदान सम्भव है।

"अब तक देखी बाढ़, लेकिन देखा नही पहाड
सुना है वहाँ परियाँ रहती थी
कल कल कल नदियाँ बहती थी
झरने करते थे खिलवाड
यह भी सुना है बर्फ पडती थी
पेडों पर मोती जडती थी
सब करते थे उसको लाड
जीव-जंतु थे वहाँ अनोखे
चीते, भालू, हरियल तोते,
करते रहते थे सिंह दहाड
लेकिन देखा नही पहाड
हमें संसाधनों का न्यूनतम व्यय करना चाहियें ताकि हमारी भावीपीढ़ी उपरोक्त पंक्तियों को ना दोहराये है।

3.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप समझ गए होगे कि नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र की ही एक शाखा है जो मूल रूप से यह बताने का प्रयास करती है कि क्या सत्य है और उसका यह विश्लेषण सांस्कृतिक भिन्नताओं से अलग होता है। इसी प्रकार पर्यावरणीय नीतिशास्त्र, जन-जागरूकता की उस नींव पर आधारित है जिसमें यह माना जाता है कि मानव प्रकृति का अंग है और मानव और प्रकृति दोनों में ही अन्तनिर्भरता पाई जाती है। संसाधनों की समस्याओं का निदान केवल कानून बनाकर ही नही हो सकता है। यह समस्या हथियारों और और शक्ति के बल पर भी दूर नही हो सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि समाज की मानसिकता को बदला जाए और उन्हे इसकी तरफ जागरुक किया जाये। जब समाज का प्रत्येक सदस्य संसाधनों का न्यूनतम व्यय करने के लिए कृतसंकल्प और कटिबद्ध हो जाएगा तभी इसका निदान सम्भव है।

3.7 शब्दावली

- **पर्यावरण-आध्यात्मिकता:-** मानव और पर्यावरण के बीच आध्यात्मिक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति।
- **नीतिशास्त्र:-** ज्ञान की शाखा जो नैतिक सिद्धांतों से संबंधित है।

3.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर

1. पर्यावरण-आध्यात्मिकता किस के बीच आध्यात्मिक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है।
   i. मानव और जीव-जन्तु के बीच
   ii. मानव और पर्यावरण के बीच
   iii. पर्यावरण और आध्यात्म के बीच
   iv. धर्म और आध्यात्म के बीच
2. पर्यावरण के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण मे शामिल है।
   i. विकासात्मक
   ii. परिरक्षण
   iii. संरक्षण
   iv. उपरोक्त सभी

प्रश्नों के उत्तर

1 ii. मानव और पर्यावरण के बीच, 2. iv. उपरोक्त सभी

3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Sustainable Economic Development: Resources, Environment, and Institutions (Arsenio Balisacan Ujjayant Chakravorty Majah-Leah Ravago) 2014 Academic Press.
- Toward an Eco-Spirituality, (Leonardo Boff), 2015 Crossroad Publishing Company.
- Introduction to Energy and Climate: Developing a Sustainable Environment, (Julie Kerr) 2017 CRC Press.

3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Sustainable Economic Development: Resources, Environment, and Institutions (Arsenio Balisacan Ujjayant Chakravorty Majah-Leah Ravago) 2014 Academic Press.
- Toward an Eco-Spirituality, (Leonardo Boff), 2015 Crossroad Publishing Company.
- Introduction to Energy and Climate: Developing a Sustainable Environment, (Julie Kerr) 2017 CRC Press.

3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मानव और पर्यावरण सम्बन्धी अवधारणाओ पर लेख लिखे।
2. पर्यावरण के विभिन्न दृष्टिकोणों को समझाए।

इकाई 4

आपदा प्रबंधन

4.0 उद्देश्य
4.1 परिचय
4.2 आपदा प्रबंधन: अवधारणा
4.3 संकट (खतरे), आपदाएं एवं जोखिम
4.4 संकट या खतरों के प्रकार
4.4.1 प्राकृतिक संकट (खतरे) एवं आपदाएं
4.4.2 मानव निर्मित संकट एवं आपदाएं
4.5 आपदाएं एवं उनके प्रभाव
4.5.1 भूकम्प
4.5.2 ज्वालामुखीय उद्गार
45.3 भू:स्खलन
4.5.4 सूनामी
4.5.5 चक्रवात
4.5.6 बाढ़
4.5.7 सूखा
4.5.8 उष्णव लहरें एवं शीत लहरें
4.5.9 ग्लोबल वार्मिग
4.5.10 ओजोन अवक्षय
4.5.11 हिम अवधाव
4.5.12 दुर्घटनाएं
4.5.13 भवन में आग लगना
4.5.14 दावानल
4.5.15 रासायनिक आपदाएं

4.5.16 नाभिकीय आपदाएं
4.5.17 कोयले की खान में आग लगना
4.6 आपदा प्रबंधन चक्र
4.7 आपदापूर्व आपदा प्रबंधन: आपदा तैयारी
4.6.1 जोखिम एवं संवेदनशीलता की समझ, रोकथाम एवं न्यूनीकरण
4.6.2 संवेदनशीलता के मुख्या कारक
4.6.3 आपदा तैयारी की अवधारणा एवं महत्वो
4.7 आपदा प्रबंधन: आपदा के दौरान
4.7.1 आपदा अनुक्रिया
4.7.2 आपातकालीन चिकित्सा अनुक्रिया
4.8 आपदा प्रबंधन: आपदा के बाद
4.9 भारत मे आपदा प्रबंधन
4.10 आपदा प्रबंधन हेतु वित्तीय व्ययवस्था
4.11 सारांश

4.0 **उद्देश्य**

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम निम्नलिखित के विषय में जान पाएंगे:

- आपदा प्रबंधन की अवधारण
- संकट (खतरे), आपदा एवं जोखिम
- आपदा प्रबंधन के विभिन्न चरण
- आपदाओं के प्रकार: प्राकृतिक आपदाएं एवं मानव निर्मित आपदाएं
- प्रमुख वैश्विक आपदाएं
- आपदा प्रबंधन के सिद्धांत, महत्व एवं भूमिका

4.1 **परिचय**

आपदा प्राकृतिक एवं मानवीय कारणों के द्वारा घटित होने वाली एक ऐसी घटना है जिसके परिणामस्वरूप समाज में सामान्य जनजीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है तथा मानव, जीव जंतुओं एवं संपत्ति को अत्यधिक हानि पहुंचती है अर्थात दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह कई महत्वपूर्ण संसाधनों और सेवाओं को प्रभावित करती हैं। भारत में सामान्यत: प्राकृतिक आपदाओं जैसे भूकम्प, भूस्खलन, सूखा, वनाग्नि, बाढ़ व चक्रवात एवं मानव जनित आपदाओं जैसे रसायनिक त्रासदी, भवनों एवं खानों में लगने वाली आग एवं आतंकवाद आदि के द्वारा प्राय: काफी हानि होती है। जब कभी ये आपदाएं जनसंख्या बहुल क्षेत्रों में आती हैं तो मानव जीवन, पशुओं, पर्यावरण एवं आधारभूत ढांचे को अत्यधिक नुकसान पहुंचाती हैं। इन आपदाओं में से कुछ प्राकृतिक धटनाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं जबकि कुछ अन्य का कारण मानव एवं मानव द्वारा विकसित तकनीकें एवं हत्यार सामग्री होती हैं। समस्त आपदाएं विभिन्न प्रकार के खतरों का परिणाम होती हैं। यद्यपि विभिन्न आपदाओं का पर्यावरण एवं समज में प्रभाव भिन्न भिन्न होता है तथापि इनके द्वाराजीव जन्तुओं, सम्पत्ति एवं पर्यावरण को अत्यधिक हानि पहूंचती है।

हालांकि विभिन्न प्रकार की आपदाओं के नकारात्मक प्रभावों को रोकना संभव नहीं है तथापि आपदा प्रबंधन के माध्यम से आपदा से विभिन्न समुदायों, पशुधन एवं बुनियादी ढांचे पर पड़ने वाले प्रभावों को काफी हद तक कम किया जा सकता है। आपदा प्रबंधन का दायरा काफी व्यापक होता

है और इसमें आपदा रोकथाम, आपदा तैयारी, आपदा प्रतिक्रिया, राहत एवं पुनर्वास सभी शामिल होता है।

प्रस्तुत इकाई में आप विभिन्न प्रकार की आपदाओं से परिचित होंगे तथा आपदाओं के प्रभावों को कम करने में आपदा प्रबंधन के सिद्धांतों, इसके महत्व एवं भूमिका के बारे में जान पाएंगे।

4.2 आपदा प्रबंधन: अवधारणा

आपदा प्रबंधन का अर्थ उन सब उपायों से होता है जिनके द्वारा विभिन्न प्रकार के संकटों या आपदाओं से होने वाले प्रभावों को न्यूनतम किया जाता है ताकि मानव समाज, जनजीवन घरेलू पशु, जीव जंतुओं, सम्पत्ति एवं पारिस्थितिक तंत्र को इसके हानिकारक प्रभावों से बचाया जा सके। आपदा प्रबंधन के मुख्यत: दो घटक होते हैं - आपदा तैयारी एवं आपदा राहत व पुनर्वास।

आपदा तैयारी अर्थात विभिन्न प्रकार के संकट या खतरों के आपदा के रूप में घटित होने से पूर्व आपदाओं की रोकथाम तथा आपदा घटित होने की स्थिति में उसके हानिकारक प्रभावों से निपटने हेतु पूर्व तैयारी।

आपदा राहत में वह सभी उपाय शामिल होते हैं जो किसी संकट के घटित होने के पश्चात आपदा के प्रभावों को कम करने से संबंधित होते हैं। इसमें पुनर्वास भी शामिल होता हैं क्योंकि कई प्रकार की आपदाओं जैसे भूकम्प, बाढ़ या भूस्खलन आदि में मानव समुदाय के घरों को काफी नुकसान पहुंचता है और लोग बेघर तक हो जाते हैं।

इस प्रकार आपदा प्रबंधन में वह सब उपाय शामिल होते हैं जो आपदा से पूर्व, आपदा के दौरान एवं आपदा के बाद की स्थिति में जनजीवन, ढांचागत सुविधाओं एवं रहन सहन को सामान्य करने हेतु आवश्यक होते हैं। इस प्रकार सामान्यत: आपदा प्रबंधन में विभिन्न संकटों या खतरों से मानव समुदाय पर पड़ने वाले प्रभाव एवं उनके निदान या न्यूनीकरण के दृष्टिकोण से आपदा प्रबंधन में तीन महत्त्वपूर्ण पहलू या चरण शामिल होते हैं। यह चरण हैं आपदा पूर्व, आपदा के दौरान एवं आपदा पश्चात आपदा प्रबंधन।

4.3 संकट(खतरे) आपदाएं एवं जोखिम

संकट या खतरा (hazards) का मतलब उन प्राकृतिक, भौतिक या मानव निर्मित अत्यधिक प्रभावशाली घटनाओं से है जो पृथ्वी की सतह में घटित होकर काफी नुकसान पहुंचाने की क्षमता रखते हैं। ऐसे खतरों के आने से प्राय: विनास होता है और जान माल की अत्यधिक हानि होती हैा जबकि आपदाऐं खतरों के घटित होने के बाद उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में आपदा को खतरों का परिणाम भी कहा जा सकता है और इस प्रकार आपदा खतरों के घटित होने के बाद की स्थिति को अभिव्यक्त करती है। भूकम्प, भूस्खलन, बादल फटना, बाढ़, सड़क एवं रेल दुर्घटनाएं, रसायनिक पदार्थो का रिसाव, प्रदूषण, चक्रवात, सूखा, सुनामी, ओजोन अवक्षय, उष्ण एवं शीत लहरें, हिम आवधाव, ज्वालामुखीय उद्गार एवं हिम अवधाव, बम बिस्फोट, आतंकवादी हमले एवं धार्मिक उन्माद इत्यादि खतरों का उदाहरण है जो असमय किसी भी क्षेत्र में घटित हो सकती है और भय की स्थिति उत्पन्न होती है और इस प्रकार को जन्म देती है।

4.4 संकट या खतरों के प्रकार

खतरों तथा उनसे व्युत्पन्न आपदाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-

- **प्राकृतिक खतरे तथा उनके द्वारा व्यूत्पन्न प्राकृतिक आपदाऐं** (बा़ढ़, चक्रवात, भूकम्प, सूनामी, जंगल की आग, जवालामुखी, एवं भूस्खलन इत्यादि)
- **मानवजनित खतरें तथा उनके द्वारा व्युत्पन्न आपदाएं** (जैसे विभिन्न प्रकार की सड़क, रेल, विमान एवं समुद्री दुर्घटनाएं, नाभिकीय एवं जैवीय दुर्घटनाएं)

4.4.1 प्राकृतिक संकट (खतरे) एवं आपदाएं

उन समस्त प्राकृतिक प्रक्रियाओं को जिनमें पर्यावरण एवं समाज को तहस नहस करने की क्षमता होती है, का प्राकृतिक खतरों की श्रेणी में रखा जाता है तथा उन खतरों के आने से जो विनास की स्थिति उत्पन्न होती है प्राकृतिक आपदा कहा जाता है। इन आपदाओं में शामिल है- भूकम्प, भूस्खलन, बादल फटना, बाढ़ का आना, चक्रवात, सूखा, सुनामी, उष्ण एवं शीत लहरें, हिम आवधाव, ज्वालामुखीय उद्गार एवं हिम अवधाव, इत्यादि। प्राकृतिक खतरों एवं इस प्रकार उनसे उत्पन्न होने वाली आपदाओं को उनके उद्गम के आधार पर निम्नलिखित वर्गो में सूचीबद्ध किया जा सकता है:

अ). भू:वैज्ञानिक संकट: भूकम्प एवं ज्वालामुखीय उद्गार

ब). हवा तथा जल सम्बंधी संकट: बाढ़, सूखा, चक्रवात, सूनामी

स). जलवायु संबन्धी संकट: उष्ण लहरें एवं शीत लहरें, ग्लोबल वार्मिग, ओजोन परत का अपक्षय

द). पर्वतीय क्षेत्र सम्बंधी संकट: भू:स्खलन, हिम अवधाव

4.4.2 मानव निर्मित संकट एवं आपदाएं

उन सभी संकट एवं उनसे उत्पन्न् आपदाओं को मानव निर्मित कहा जाता है जो मानवीय गतिविधियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं। यह आपदाएं आकस्मिक भी हो सकती है या कालान्तर में इनका प्रभाव बड़ता चला जाता है जिसके परिणाम प्राय: गंभीर हुआ करते हैं। दूसरे शब्दों में यह उन आपातकालीन स्थितियों को व्यक्त करती हैं जो मुख्य रूप से मानवीय क्रियाओं का परिणाम होती हैं। इन मानवीय क्रियाओं में मुख्य रूप से औद्योगीकरण, अत्यधिक जनसंख्या, उपभोक्तावाद में बृद्धि, आधुनिक तकनीक का जानबूझकार गलत उपयोग या असावधानी या लापरवाही के कारण इस प्रकार विभिन्न प्रकार के संकट कभी भी आपदाओं में परिणत होकर मानव जाति, जीवजंतुओं एवं पर्यावरण को गंभीर हानि पहुँचा सकते हैं। मानव निर्मित आपदाओं को व्यापक रूप में निम्नलिखित प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है:

अ). दुर्घटनाएं (जैसे सड़क, रेल, विमान एवं समुद्री दुर्घटनाएं)

ब). आग लगना (भवन में आग लगना)

स). रासायनिक आपदाएं

द). नाभिकीय संकट

अभ्यास प्रश्न

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. **आपदाए दो प्रकार की होती हैं _____एवं _____**
2. **रासायनिक आपदा _____आपदा में शामिल है।**
3. **ग्लोबल वार्मिग प्राकृतिक संक के _____उपप्रभाग में शामिल है।**

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. सड़क दुर्घटना एवं नाभकीय आपदा _____ आपदा में शामिल किये जाते हैं। (सत्य / असत्य)

2. खतरों को आपदा का परिणाम भी कहा जा सकता है। (सत्य / असत्य)

4.5 आपदाएं एवं उनके प्रभाव

सामान्यत: आपदाओं के कारण निम्नांकित प्रभाव देखे गए हैं:

- जीवन की क्षति
- चोट
- संपत्ति को हानि एवं विनाश
- आजीविका एवं नकदी फसलों को हानि एवं विनाश
- उत्पादन में व्यवधान
- जैव चक्र में व्यवधान
- आजीविका की क्षति
- आवश्यक सेवाओं में व्यवधान
- राष्ट्रीय संरचनात्मक ढांचों को हानि एवं सरकारी तंत्र में व्यवधान
- राष्ट्रीय आर्थिक हानि
- आपदा पश्चात सामाजिक एवं मानसिक प्रभाव

उपरोक्त में से अधिकतर प्रभाव सभी प्राकृतिक एवं मानव निर्मित आपदाओं में दृष्टिगोचर होते हैं।

4.5.1 भूकम्प

पृथ्वी के नीचे अचानक होने वाली भू:वैज्ञानिक घटना के परिणामस्वरूप लहरें उत्पन्न होती हैं, और ये लहरे काफी दूर तक हलचल उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार होने वाली हलचल ऊर्ध्वाधर (vertical) एवं क्षैतिज (horizontal) दोनों

तलों में कम्पन पैदा करती हैं जिसके कारण पृथ्वी के हिलने से आर्थिक, सामाजिक एवं जान माल की हानि होती है। हालांकि सभी भूकम्पों से समान हानि नहीं होती। कुछ भूकम्प अधिक खतरनाक होते हैं कुछ कम । यह इस बात पर निर्भर करता है कि भूकम्प की तीव्रता का परिमाण कितना अधिक या कम है। तीव्रता से अभिप्राय इस बात से होता है कि भूकम्पीय क्षेत्र पर भूकम्प के समय उत्सर्जित ऊर्जा की मात्रा कितनी है अर्थात जो भूकम्प तीव्र होगा उसमे उत्सर्जित ऊर्जा की मात्रा अधिक होगी और इससे होने वाली हानि भी व्यापक होगी। भूकम्प की तीव्रता को मापने का पैमाना रिक्टर पैमाने कहलाता है। सामान्यत: 6 रिक्टर से अधिक भूकम्प हानिकारक होते हैं।

4.5.1.1 भूकम्प की विशेषताएं

भूकम्पों की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित प्रकार हैं:

- भूकम्प हेतु किसी भी प्रकार का चेतावनी तंत्र विकसित नहीं है इसलिए इसकी कोई पूर्व चेतावनी संभव नहीं होती और यह अकस्तमात ही घटित हो जाया करता है। हालांकि एक बड़ा भूकंप तत्पश्चात आने वाले द्वितीयक झटकों की चेतावनी होता है।
- आमतौर पर इसका आना अचानक होता है।
- भूकंप-प्रवण क्षेत्र आमतौर पर अच्छी तरह से चिंहित एवं प्रसिद्ध होते हैं।
- इससे होने वाले मुख्य प्रभाव मुख्य रूप से भूमि के कंपन, टूटने, या भूभाग के फिसलने से होते हैं जिसके कारण विशेष रूप से संरचनाओं और प्रणालियों को अक्सर बहुत गंभीर हानियां देखने को मिलती है और अक्सर

यह देखा गया है कि किसी चेतावनी तंत्र के अभाव में ही अधिकतर जानमाल की हानि हुई है।

4.5.1.2 भूकम्प के कारण

भूकंप प्राकृतिक एवं मानवीय कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं| प्राकृतिक कारणों से आने वाले भूकम्प मुख्यत: विवर्तनिक क्रिया एवं भौगोलिक दोषों के कारण होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कारणों जैसे ज्वालामुखीय सक्रियता और भूगर्भीय असमानता से भी भूकम्प आते हैं। मानवीय कारणों में खदानों के विष्फोट एवं परमाणु परिक्षण इत्यादि के कारण प्राय: भूकम्प उत्पन्न हो सकते हैं। विशेषज्ञों के अनुसार सतह से लेकर केन्द्र तक पृथ्वी कई परतों में विभाजित है। इन परतों को प्लेटों के नाम से जाना जाता है। पृथ्वी की बाह्य सतह में कई खण्डों अथवा चट्टानों के मिलन स्थल पर भ्रंश अथवा फॉल्ट का निर्माण हो जाता है।

हजारों लाखों वर्षों के अंतराल में ये विवर्तनिक प्लेटें विस्थापित होती है और इस दौरान आपस में टकराव के कारण घर्षण से ऊर्जा का उत्सर्जिन होता है। यह ऊर्जा भूखण्डों में दबाव के फलस्वरूप पृथ्वी सतह पर भूकम्प के रूप में प्रकट होती है। अपकेन्द्रित प्लेट सीमाओं पर जब एक प्लेट दूसरी के नीचे खिसक जाती है या फिर पृथ्वी सतह पर पर्वत श्रृंखला का निर्माण करती है, दोनों ही स्थितियों में प्लेटों के मिलन स्थल पर भयावह तनाव उत्पन्न हो जाता है। इसी तनाव का अचानक निष्कासन भूकम्प को जन्म देता है। इस ऊर्जा के कारण पृथ्वी की सतह पर भूकम्पीय तरंगे उत्पन्न होती हैं जो कम्पन के रूप में प्रकट होती है। भू-गर्भ में भूकम्प के प्रारम्भिक बिन्दु जहाँ से कम्पन उत्पन्न होता है उस बिन्दु को केन्द्र अथवा फोकस कहते हैं तथा

पृथ्वी सतह पर ठीक उसके ऊपर के बिन्दु को अधिकेन्द्र (Epicenter) कहा जाता है।

भूकम्पी तरंगे तीन प्रकार की होती हैं- प्राथमिक तरंगे (P-Wave), द्वितीयक तरंगे (S-Wave) एवं सतही तरंगे (Surface-Wave)। प्राथमिक तरंग को अनुदैर्ध्य तरंग या ध्वनि तरंग भी कहा जाता हैं क्योंकि ये तरंगे ध्वनि तरंगों की भाँति व्यवहार करती हैं। यह तरंगे सबसे तेज गति से चलती हैं और ठोस तथा द्रव माध्यम दोनों से चल सकती हैं। द्वितीयक तरंगों को अनुप्रस्थ तरंग या प्रकाश तरंग भी कहते हैं, क्योंकि ये प्रकाश तरंगों की भाँति व्यवहार करती हैं और सतही तरंगे केवल पृथ्वी के धरातल पर चलती और इन्हीं तरंगों से सर्वाधिक हानि होती है। विवर्तनिकी सिद्धान्त के अनुसार विश्व की समस्त पर्वत शृंखलाओं का निर्माण विवर्तनिक घटनाओं के परिणामस्वरूप ही हुआ है। विश्व की सबसे ऊँची पर्वत शृंखला हिमालय का निर्माण भी ऐसी ही दो प्लेटों (यूरेशियन प्लेट तथा भारतीय प्लेट) के पास आने तथा टेथीज सागर में जमा अवसाद के संपीडन से हुआ है।

इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि इन प्लेटों के परस्पर घर्षण से ही, अधिकाशतः महाद्विपीय सीमाओं पर भूकम्प अत्यधिक सक्रिय रहे हैं। पुरातत्व विज्ञानियों द्वारा यह परिकल्पना की गई कि 300 मिलियन वर्ष पूर्व एक अतिविशाल महाद्वीप पैंजिया का निर्माण हुआ जो 100 मिलियन वर्ष बाद टूटना प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप उत्तरी वृहत महाद्वीप लौरेसिया तथा दक्षिणी वृहत महाद्वीप गोडवाना का निर्माण हुआ। शोधकर्ताओं द्वारा यह माना गया है कि लगभग 14 करोड़ वर्ष पूर्व भारत भी गोडवाना महाद्वीप का ही हिस्सा था तथा 12 करोड़ वर्ष पूर्व यह गोडवाना से टूटकर 5 सेमी/वर्ष की

रफ्तार से उत्तर दिशा की ओर गति करते हुए 5 करोड़ वर्ष पूर्व यूरेशिया महाद्वीप से जा टकराया और अत्यधिक दबाव से ही हिमालय का निर्माण हुआ। जहाँ की विवर्तनिक घटनाऐं अत्यधिक तेजी से घटित होती रही है। यूरेशियन प्लेट अत्यधिक दबाव के कारण जहाँ हिमालय का निर्माण अब भी सतत है वहीं इस क्षेत्र में भूकम्प की घटनाएँ भी घटित होती रहती हैं। अति संवेदनशील होने के कारण इस परिक्षेत्र में भूकम्प का प्रभाव भी तुलनात्मक रूप से अधिक होता है। हाल ही में नेपाल में आए भूकम्प को इसके प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में माना जा सकता है।

भूकम्पो के आने का दूसरा प्रमुख कारण ज्वालामुखी उद्भेदन है। ज्वालामुखी के भयंकर उद्भेदन से ठोस शैलों पर अत्यधिक दबाव पड़ता है, और इस कारण पृथ्वी की सतह पर कम्पन पैदा होते है लेकिन ऐसे भूकम्पों का प्रभाव क्षेत्र सीमित होता है और सामान्यत: ये ज्वालामुखी के आस पास के क्षेत्रों तक ही अपना प्रभाव देते हैं। इसके अतिरिक्त भूस्खलन, खानों में जल रिसाव, सुरंगों व कन्दराओं की छतों के शैलों का टूटकर गिरना इत्यादि से सीमित प्रभाव वाले भूकम्पों आते हैं।

4.5.1.3 भूकम्प के प्रभाव

- **झटके और भूमि का फटना:** झटके और भूमि का फटना भूकम्प के मुख्य प्रभाव हैं। इसके कारण मुख्य रूप से इमारतें व अन्य कठोर संरचनाएं गंभीर रूप से प्रभावित होती है। इस प्रभाव की गंभीरता भूकम्प के परिमाण, स्थान विशष की केंद्र (एपिसेंटर) से दूरी एवं भूवैज्ञानिक व भूआकारीय स्थितियों पर निर्भर करती है जिनके कारण भूकम्पीय तरंगों का प्रसार निर्भर करता है। विशिष्ट

भूवैज्ञानिक, भूआकारिकीय और भूसंरचनात्मक लक्षण भूसतह पर अधिक तीव्रता के झटके उत्पन्न कर सकते हैं और यहाँ तक कम तीव्रता के भूकम्प भी ऐसा करने में सक्षम हैं। भूमि का फटना प्रमुख अभियांत्रिकी संरचनाओं जैसे बाँधों, पुल और परमाणु शक्ति स्टेशनों के लिये बहुत बड़ा जोखिम है।

- **भूस्खलन और हिमस्खलन:** भूकम्प के कारण पहाड़ी और पर्वतीय इलाकों में भूस्खलन और हिमअवधाव या हिमस्खलन उत्पन्न हो सकता है। भूस्खलन का मतलब विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का अत्यधिक मात्रा में पहाड़ी क्षेत्रों में ऊँचाई से ढलान में नीचे की ओर खिसकने से होता है और इसी प्रकार वर्फ की चट्टानों के खिसकने का हिमअवधाव कहा जाता है।

- **इमारतीय एवं जंगल की आग:** भूकम्प के कारण विद्युत लाइन के टूट जाने से इमारतों में आग लगने की संभावना बढ जाती है। इसके अतिरिक्त घर्षण के कारण उत्पन्न चिंगारियों से वनाग्नि भी उत्पन्न हो सकती है और एक बार आग शुरू हो जाने के बाद इसे फैलने से रोकना कठिन हो जाता है।

- **मृदीय द्रवीकरण:** मृदीय द्रवीकरण तब होता है जब झटकों के कारण जल संतृप्त दानेदार पदार्थ अस्थायी रूप से अपनी ठोस बने रहने की क्षमता को खो देता है और इस प्रकार ठोस से तरल में रूपांतरित हो जाता है। मृदीय द्रवीकरण के कारण कठोर संरचनाएं जैसे इमारतें और पुल झुककर टूट सकते है।

- **बाढ़:** मानव द्वारा विभिन्न नदियों में मुख्य रूप से पहाड़ी क्षेत्रों में पानी को रोककर बाँध बनाए जाते हैं और इस जल का उपयोग सिंचाई एवं पनबिजली उत्पादन में किया जाता है। भूकम्प के कारण इन बांधों के क्षतिग्रस्त होने की

संभावना काफी हद तक बढ जाती है। भूकम्प के बांधों के क्षतिग्रस्त होने की स्थिति में नदियों में बाढ़ आने की संभावना अत्यधिक बढ़ जाती है।

4.5.2 ज्वालामुखीय उद्गार

ज्वालामुखी पृथ्वी के सतह पर उपस्थित ऐसे विंदु होते है जिनसे पृथ्वी के भीतर का गर्म लावा, गैस, राख आदि बाहर आते है । ज्वालामुखीय उद्गार से मतलब उस घटना से होता है जिसमें पृथ्वी के अन्दर जमा मैग्मा अर्थात गर्म लावा, गैस, राख बाहर निकलकर काफी बड़े क्षेत्र में फैल जाती है। ज्वालामुखी के फटने से विविध प्रकार के खतरे त्पन्न होते हैं जिनसे लोगों की जान जा सकती है और आस-पास के क्षेत्रों के अतिरिक्त सैकड़ों किलोमीटर दूर तक की सम्पत्ति भी नष्ट हो सकती है। इसके खतरों में, राख का बड़े क्षेत्र में गिरना, गर्म गैसों और ज्वालामुखीय चट्टानों के मिश्रण का बहुत तेजी से फैलना और विशालकाय लहर (lahars) आदि शामिल हैं और इस प्रकार ज्वालामुखीय उद्गार से निकलने वाली विशाक्त लावा, भाप एवं गैसें धुएं के रूप में फैल कर आपदाग्रस्त कर देती हैं। हालांकि यह जरूरी नहीं कि सभी ज्वालामुखी हमेशा सक्रिय हो। कई बार यह देखा गया है कि ज्वालामुखी वर्षो तक निष्क्रिय रहते हैं और किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहूंचाते। ऐसे ज्वालामुखी की स्थिति को शयनावस्था में कहा जाता हैं। भारतवर्ष में अभी तक केवल दो ज्वालामुखी- नारकोडम एवं बैरनद्वीप ज्ञात हैं और दोनों ही अन्दमान में अवस्थित हैं। ये दोनों ही जवालामुखी अभी तक शयनावस्था में हैं हालांकि बैरनद्वीप ज्वालामुखी से कभी-कभी कुछ धुंआं और ऊर्जा निस्कासित होती है लेकिन इनके द्वारा अभी तक किसी भी प्रकार की गंभीर क्षति नहीं हुई है। ज्वालामुखी से प्रभावित देशों में मुख्य रूप से शामिल हैं- जापान, इटली, मैक्सिको, इण्डोनेशिया एवं आइसलैंड इत्यादि हैं।

सन् 2010 (मई-जून) में आइसलैंड में काटला नामक ज्वालामुखी फट गया था और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न राख ने बहुत चिंतित किया था। इसकी वजह से स्कॉटलैंड और फेयारो आइसलैंड एयर ट्रेफिक बाधित हुआ था। उससे पहले यूरोप में वायु यातायात काफी प्रभावित हुआ।

4.5.2.1 ज्वालामुखीय उद्गार कारण

वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी की सतह के नीचे विभिन्न गहराइयों में विभिन्न प्रकार के रेडियोधर्मी पदार्थ या खनिज उपस्थित रहते हैं जिनका यह गुण होता है कि ये स्वत: विखंडित हो कर बहुत अधिक ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। ऊर्जा के इस उत्सर्जन के कारण पृथ्वी के अंदर चट्टानें एवं अन्य पदार्थ तपते रहते हैं। लगातार होने वाली इस प्रक्रिया के करण पृथ्वी के अंदर ताप और दाब बढ़ता चला जाता है। यद्यपि यह तापमान चट्टानों के गलनांक (1000 डिग्री सेल्सियस) से ऊपर हो जाता है तथापि अत्यधिक दाब के कारण चट्टानें द्रवित नहीं हो पातीं। लेकिन कुछ स्थितियों में जैसे दाब के सापेक्ष ताप में अत्यधिक वृद्धि के होन से या ताप के सापेक्ष दाब में कमी होने से भूमि के नीचे स्थित चट्टानें तत्काल द्रवित हो जाती हैं और इस प्रकार मैगमा बनता है। भूसंचलन विक्षोभों के कारण भूपटल के स्तरों में पर्याप्त हलचल होती है जिसके फलस्वरूप बड़ी-बड़ी दरारों का निर्माण होता है। ये दरारें काफी गहराई तक जाती हैं। जिन स्तरों तक दरारों की पहुंच होती है, वहां दाब में कमी आ जाती है। इसकी वजह से ताप तथा दाब के बीच असंतुलन पैदा हो जाता है। इस परिस्थिति में यदि तापमान चट्टानों के गलनांक से ऊपर हो जाए तो अविलम्ब स्थानीय रूप से मैगमा का निर्माण होता है। जैसे ही मैगमा का निर्माण होता है यह अविलम्ब अधिक दाब वाले क्षेत्र से कम दाब वाले क्षेत्र की ओर बहता है। इसी क्रम में यह दरारों से

होकर ऊपर भूसतह की ओर बढ़ता है। दरारों से होकर ऊपर बढ़ने के क्रम में कभी तो मैगमा भूसतह पर पहुंचने में सफल हो जाता है, परन्तु कभी रास्ते में ही जम कर ठोस हो जाता है। भूसतह तक पहुंचने वाले मैगमा को लावा कहते हैं तथा इसी के कारण ज्वालामुखी विस्फोट होता है।

4.5.2.1 प्रभाव

- ज्वालामुखी के फटने से गैस और पत्थर ऊपर की ओर निकलते हैं. इसके फटने से लावा तो बहता है ही, साथ ही गर्म राख भी हवा के साथ बहने लगती है. जमीन के नीचे हलचल मचने से भूस्खलन और बाढ़ भी आती है।
- ज्वालामुखी से निकलने वाली राख में पत्थर के छोटे छोटे कण होते हैं. इनसे चोट पहुंच सकती है और यह कांच जैसे होते हैं. बूढ़े लोगों और बच्चों के फेंफड़ों को इनसे नुकसान पहुंच सकता है।
- मलबे का प्रवाह के कारण बहुत बड़ा क्षेत्र कृषि अयोग्य हो जाता है। जंगलों को हानि पहुँचती है, वन्य जीवन प्रभावित होता है।
- कार्बन डाइऑक्साइड के उत्सर्जन से प्रदूषण में वृद्धि होती है।

4.5.3 भू:स्खलन

भूस्खलन एक भूवैज्ञानिक घटना है। इस क्रिया में पृथ्वी की धरातली हलचलों जैसे पत्थर खिसकना या गिरना, पथरीली मिटटी का बहाव, अत्यधिक वर्षा इत्यादि के कारण पृथ्वी की ऊपरी सतह का अपने स्थान से खिसक जाती है। इस प्रक्रिया को भूस्खलन कहा जाता है। भू:स्खलन के कारण मानव बस्तियां, एवं आधारभूत संरचनाओं को प्रतिवर्ष अत्यधिक हानि पहुंचती है। यह प्राय: पर्वतीय क्षेत्रों के लिए काफी नुकसानदायक सिद्ध हुई

है। पर्वतीय क्षेत्रों में हिमालय इसके लिए काफी संवेदनाशील है क्योंकि यहां के पहाड़ नव निमित हैं तथा इनकी संरचना कमजोर होती है। भू:स्खलन के मुख्य कारण अत्यधिक वर्षा का होना, भुकम्प, या बाढ़ हो सकता है। भूस्खलन के कारण कई प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव देखे गये हैं। इसके प्रत्यक्ष प्रभावों में शामिल है- रास्तों, सड़कों, रेल लाइनों का टूटना जिस कारण उस क्षेत्र में विनाश की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। भूसखलन से निकला मलबा संचार, बिजली की लाइनों, एवं सड़क मार्ग को अवरूद्ध कर देता है। भुस्खलन के अप्रत्यक्ष प्रभावों में घरों को क्षति, सम्पत्ति का विनाश और जीवों के सामान्य दिनचर्या में रूकावट का होना, आदि शामिल है।

4.5.3.1 भूस्खलन के कारण

भूस्खलन के बहुत से कारण हो सकते हैं यह कारण हैं:-

- तीव्र वर्षा का होना
- दीर्घावधि तक तीव्र वर्षा
- तीव्र गति से वर्फ का पिघलना
- भूकम्प के आने से भी चट्टाने या मिट्ट खिसक जाती है।
- ज्वालामुखीय उद्गार
- बाढ़ के कारण पहाड़ी क्षेत्रों में पानी से मृदा का तीव्र कटान होता है जो अक्सर भूस्खलन में परिवर्तित हो जाता है।
- कमजोर पदार्थो का होना
- संवेदनशील सामग्री
- अपक्षयित सामग्री
- जंगलों या पेड़ों का कटान

4.5.4 सूनामी

समुद्री तूफ़ान को जापान में सूनामी (tsunami) बोलते हैं, जिसका अर्थ होता है - बन्दरगाह के निकट की लहर। सूनामी दरअसल बहुत लम्बी - यानी सैकड़ों किलोमीटर चौड़ाई वाली लहरें होती हैं, यानी कि लहरों के निचले हिस्सों के बीच का फ़ासला सैकड़ों किलोमीटर का होता है। जब ये लहरें तट के पास आती हैं, तो लहरों का निचला हिस्सा ज़मीन को छूने लगता है, जिस कारण इनकी गति कम हो जाती है, और ऊँचाई बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में जब ये तट से टक्कर मारती हैं काफी दूर तक के क्षेत्र में अपना प्रभाव छोड़ती हैं जिस कारण उस क्षेत्र में तबाही होती है। इन समुद्री तूफानों की गति 400 किलोमीटर प्रति घण्टा तक, और ऊँचाई 10 से 17 मीटर तक हो सकती है और इस प्रकार ये खारे खारे पानी की चलती दीवार सी महसूस होती हैं। इनका मुख्य कारण है - समुद्री भूकम्प। इस प्रकार के भूकम्प और तत्पश्चात सूनामी की आवृत्ति प्रशान्त महासागर बहुत अधिक होती हैं, लेकिन बंगाल की खाड़ी, हिन्द महासागर व अरब सागर में नहीं के बराबर आते हैं।

4.5.5 चक्रवात

यह एक निम्न वायु दाब वाला क्षेत्र है जहाँ बाहर से हवाएं भीतर (केंद्र) की ओर चक्कर काटती हुई चलती हैं। ये हवाएं उत्तरी गोलार्द्ध में वामावर्त दिशा में (anticlock wise) और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त दिशा में (clock wise) घूमती हुई चलती हैं। सामान्यतः चक्रवात दो प्रकार के होते हैं- उष्ण कटिबंधीय चक्रवात और शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात। सामान्यतः इनकी आकृति वृत्ताकार होती है जिसका व्यास 50 किमी. से 300 किमी. तक पाया जाता है। इनकी गति साधारण (30 से 40 किमी. प्रति घंटा) से लेकर प्रचंड (100 से 120 किमी. प्रति घंटा) तक होती है। उष्ण कटिबंधीय चक्रवात

सागरों के ऊपर तीव्रगति से चलते हैं किन्तु स्थलीय भागों पर इनकी गति मंद हो जाती है। ये चक्रवात प्रायः ग्रीष्म काल में उत्पन्न होते हैं और अपनी प्रचंड गति एवं तूफानी प्रकृति के कारण अधिक विनाशकारी होते हैं। इन चक्रवातों से प्रायः तेज वर्षा होती है। शीतोष्ण कटिबंध (मध्य अक्षांशों) में उत्पन्न होने वाले चक्रवातों की आकृति गोलाकार, अंडाकार अथवा वेज के समान होती है जिन्हें सामान्यतः निम्नदाब (low), अवदाब (depression) अथवा द्रोणी (trough) कहा जाता है। इनकी उत्पत्ति दो विपरीत तापमान वाली वायुराशियों के मिलने से होती है। ये चक्रवात मध्य अक्षांशों (35 से 650 अक्षांश) में दोनों गोलार्द्धों में पश्चिमी पवनों के प्रभाव में पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं। ऐसे सामान्य चक्रवात का दीर्घव्यास लगभग 2000 किमी. और लघु व्यास 1000 किमी. होता है। इनकी औसत गति शीतकाल में 50 किमी. प्रतिघंटा और ग्रीष्मकाल में 30 किमी. प्रति घंटा पायी जाती है।

4.5.6 बाढ़

बाढ़ की स्थिति एक ऐसी प्राकृतिक आपदा है जो आमतौर पर निरंतर मूसलाधार बरसात या गरजदार तूफान होने से नदियों में उनकी क्षमता से अधिक अपवाह होने के कारण उत्पन्न होती है, लेकिन यह सुनामी और तटीय तूफानी जलमग्नता का भी परिणाम हो सकता है। बाढ़ खतरनाक हो सकती है। इससे नदियों का जल किनारों से बाहर आकर मैदानी भागों में बहने लगता है। बाढ़ कुछ घण्टों से लेकर कुछ दिनों तक रह सकता है, लेकिन इससे जन, धन और फसलों को बहुत अधिक हानि हो सकती है। दूसरे शब्दों में यह जल के अन्त:प्रवाह एवं बाह्य प्रवाह के बीच होने वाले असन्तुलन का परिणाम है। बाढ़ के आने से न केवल जानमाल की हानि होती है वरन् विभिन्न पारिस्थितिक तंत्रों को गभीर हानि होती है।

4.5.7 सूखा

किसी भी क्षेत्र में दीर्घअवधि में पानी की अस्थाई अनउप्लब्धता का सूखे की स्थिति कहा जाता है। सूखे की स्थिति के कारण कृषि उत्पादन एवं पशुओं के स्वास्थ्य में विपरीत असर पड़ता है। लम्बे समय तक सूखा होने से मिट्टी काफी शुष्क हो जाती है परिणामस्वरूप जीवों का जीवन कष्टदायी हो जाता है।

4.5.8 उष्ण लहरें एवं शीत लहरें

तेजी से चलने वाली असामान्य गर्म हवाएँ जिनके आगमन से तापमान में आकस्मिक रूप से तीव्र वृद्धि हो जाती है। सामान्यतः शीतोष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में निम्न अक्षांशों की ओर से आने वाले अवदाबों के प्रवेश से तापमान में तीव्र वृद्धि हो जाती है और गर्म हवाएं चलने लगती हैं। ये अवदाब पश्चिम से पूर्व की ओर अग्रसर होते हैं। गर्म मरुस्थलों तथा उपोष्ण भागों में शुष्क ग्रीष्म ऋतु में धरातल के अधिक गर्म हो जाने के कारण अति उष्ण लहरें चलती हैं जिससे वनस्पतियां तथा फसलें झुलस जाती हैं। उत्तरी भारत में अप्रैल-मई में पश्चिम से पूर्व की ओर चलने वाली उष्ण लहरों को लू (Loo) के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार जाड़े मौसम में तेल गति से चलने वाली हवाएं जो तापमान में कमी कर देती हैं, को शीत लहरें कहा जाता है।

4.5.9 ग्लोबल वार्मिंग

मानव द्वारा व्यूत्पन्न विशिष्ट प्रकार के प्रदुषण (जैसे ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन) के कारण पृथ्वीं के बढते हुए औसत तापमान को ग्लोबल वार्मिंग कहते है जिसकी वजह से अंटार्कटिका और भारत में हिमालय पर बर्फ़ पिघल रही है, तथा समुंद्र का जलस्तर बढता ही जा रहा है। वैज्ञानिकों ने बताया

की १९०१ से २००० के दौरान पृथ्वी का तापमान ०.६ सेल्सियस बढ चुका है। जब टाइम फ़्रेम को ५ साल आगे बढाया गया १९०६ से २००६ तक तो तापमान में ०.७४ सेल्सियस बढ़ोतरी रिकार्ड की गयी।

IPCC के अनुसार पिछले ५० वर्षों में ग्लोबल वार्मिग लगभग दोगुना बृद्धि हुई है। समुद्र का तापमान ३००० मीटर की गहराई तक बढ़ चुका है। उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्धों में ग्लेशियर और बर्फ़ ढकें क्षेत्रों में कमी हुई है जिसकी वजह से समुंद्र का जलस्तर बढ गया है। पिछले १०० वर्षों में अंटार्कटिका का औसत तापमान पृथ्वी के औसत तापमान से दोगुनी रफ़्तार से बढ रहा है। अंटार्कटिका में बर्फ़ जमे हुऍ क्षेत्र में ७ प्रतिशत की कमी हुई है। उत्तरी अमेरिका के कुछ हिस्से, उत्तरी युरोप और उत्तरी एशिया के कुछ हिस्सों में बारिश ज़्यादा हो रही है जबकि भूमध्य और दक्षिण अफ्रीका में सुखे के रुझान बढते जा रहे हैं। पश्चिमी हवायें बहुत मज़बुत होती जा रही हैं। सुखे की रफ़्तार तेज होती जा रही है, भविष्य में ये और अधिक लम्बे समय और व्यापक क्षेत्र में सूखा होने का अनुमान लगाया जा रहा है।

4.5.10 ओजोन अवक्षय

हमारे वायुमंडल के स्ट्रेटोस्फियर में मुख्यत: ओजोन गैस बहुतायत में पायी जाती है इसलिए इस परत को ओजोन परत भी कहा जाता है। सूर्य से आन वाला प्रकाश ओजोन परत से छनकर ही पृथ्वी पर पहुंचता हैं क्योंकि इस प्रकाश में खतरनाक पराबैंगनी विकिरण हाती हैं, जिन्हें पृथ्वी की सतह तक पहुंचने से रोकने का कार्य ओजोन परत के द्वारा किया जाता है और इस प्रकार हम एवं हमारे ग्रह के अन्य जीव जन्तु इसके कु:प्रभाव से सुरक्षित रहते हैं। ओजोन के अणुओं (O3) में ऑक्सीजन के तीन परमाणु होते हैं। यह एक जहरीली गैस है और वातावरण में बहुत कम मात्रा में पायी जाती

है। प्रत्येक 10 मिलियन अणुओं में इसके सिर्फ 3 अणु पाये जाते हैं। ओजोन (90 प्रतिशत से अधिक) मुख्यत: वातावरण के ऊपरी हिस्से अर्थात समताप मंडल (स्ट्राटोस्फेयर) में पाई जाती है जो कि पृथ्वी के 10 किमी0 ऊपर से आरम्भ होकर 50 किलोमीटर (6 से 30 मील) ऊपर तक का क्षेत्र है। क्षोभमंडल (ट्रोपोस्फेयर) की तली में जमीनी स्तर पर ओजोन हानिकारक प्रदूषक है जो ऑटोमोबाइल अपकर्षण और अन्य स्रोतों से पैदा होती है।

4.5.11 हिम अवधाव

किसी पहाड़ी की ढलान से बर्फ की बड़ी मात्रा के तीव्र गति एवं तेज बल के साथ नीचे की ओर फिसलने को अवधाव कहते हैं। उच्च अक्षाशों में प्रायः पर्वतों तथा उच्चवर्ती भूमियों पर स्थित एक बृहद हिमराशि जो इतनी अधिक मात्रा में संचित हो जाती है कि अपने ही भार के कारण पर्वतीय ढाल के सहारे नीचे की ओर सरकने लगती है जिसके साथ हजारों टन शैल पदार्थ भी अग्रसर होते हैं। हिमधाव अधिक विनाशकारी होता है और इसके मार्ग में पड़ने वाले गांव, सड़कें, वन आदि नष्ट हो जाते हैं। यह प्राय: ठंड के दिनों में हिमालय के बर्फ से ढके क्षेत्रों में घटित होती है, जिससे प्रतिवर्ष इन क्षेत्रों में जानमाल का भारी नुकसान होता है।

4.5.12 दुर्घटनाएं

विभिन्न दुर्घटनाएं जो मानवीय कारणों के कारण होती हैं, मानव निर्मित आपदाओं का भाग होती हैं। इन दुर्घ्टनाओं में मुख्यत: सड़क, रेल, बिमान एवं समुद्र से संबंधित दुर्घटनाएं शामिल हैं। इन सभी दुर्घटनाओं के मुख्य कारणों में शामिल है- भारी वर्षा, चक्रवात, तूफान, मानवीय विफलताएं, भस्खलन तथा मानव द्वारा सड़क एवं रेल के साथ छेड़ छाड़ किया जाना

शामिल होता है। चाहे जिस भी कारण से ये दुर्घटनाएं हों, इसका परिणाम भयावह होता है। इन दुर्घटनाओं को यदि समय पर उचित प्रबंधन न किया जाये तो इसके द्वारा होने वाली हानि कई गुना अधिक हो जाती है।

4.5.13 भवन में आग लगना

भवन में आग लगने के कारण प्राय:आपदा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और यह कभी कभी गंभीर अवरूथा उत्पन्न कर देती है जिस कारण जान एवं माल को बहुत अधिक नुकसान पहुंचता है। भवनों में लगने वाली आग के कारण मानवजनित होते हैं –जैसे विजली में सार्ट सर्किट, घरेलु गैस का असावधानी पूर्वक उपयोग, इत्यादि है। आग की घटना अक्सर ऊंची-ऊंची इमारतों, झुग्गी झोपड़ियों एवं जंगलों में प्राय: लग जाया करती हैं।

4.5.14 दावानल

आग लगना एक सामान्य घटना है जो सधारणत: शुष्क मौसम में लग जाया करती है। गर्मियों में गांव के समीप के वनों में स्थानीय लोगों के द्वारा जानबूझकर अथवा असावधानी के कारण लग जाया करती है जिसके कारण पारिस्थितिक तंत्र को काफी हानि पहुंचती है। वनागिन के दीर्घ कालीन प्रभाव होते हैं यह केवल वनों को ही प्रभावित नहीं करती वरन् पर्यावाण एवं समाज को प्रभावित करती है। उत्तराखण्ड के जंगलों में प्रतिवर्ष गर्मी के मौसम में प्राय: आग लग जाया करती है जिसके कारण अत्यधिक राजस्व की तो हानि होती ही है साथ में पर्यावरण एवं जीव जंतुओं को भी नुकसान पहुंचता है।

4.5.15 रासायनिक आपदाएं

ऐसी आपदाएं जो रसायनिक पदार्थो के जोखिमों के कारण घटित होती हैं, को रासायनिक आपदाएं कहा जाता है। रासायनिक आपदाओं के मुख्य कारण मानव द्वारा असावधानी या इस्तेमाल की गयी प्रौद्योगिकी में किसी भी चरण में किसी प्रकार की खामी का होना होता है। यह आपदाएं कभी कभी व्यापक रूप से जनमानस को प्रभावित कर देती हैं। 1984 में भोपाल में घटित 'भोपाल गैस त्रासदी' इसका एक उदाहरण है जिसके कारण बड़ी मात्रा में जानमाल की हानि हुई थी।

4.5.16 नाभिकीय आपदाएं

आज मानव द्वारा अपने बचाव के लिए या ऊर्जा प्राप्त करने हेतु विभिन्न देशों में नभिकीय रिएक्टरों की स्थापना की गयी है। कई बार इन रिएक्टरों में प्रौद्योगिकी गड़बड़ी के कारण या मशीनों में खामियों के कारण दुर्घटनाएं घटित हो जाती हैं जिससे काफी तबाही एवं नुकसान हो जाया करती है। नाभिकीय आपदाएं कई रूपों में घटित हो सकती हैं जैसे-नाभिकीय विस्फोट, रिएक्टर दुर्घटनाएं, रेडियोएक्टिव अपशिाष्ट पदार्थो के त्रुटिपूर्ण निपटान और परिवहन के दौरान रेडियोसर्किय पदार्थो की चोरी अथवा रिसाव के कारण घटित हो सकती हैं। नाभिकीय आपदाएं परिस्थितिक तंत्र में दूरगामी परिणामों के लिए उत्तरदायी होती हैं। नाभिकीय आपदाओं का प्रभाव केवल क्षेत्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के पार चला जाता है। ऐसी ही एक नाभिकीय आपदा 26 अप्रैल 1986 में चरनोबिल (यूक्रेन, भूतपूर्व रूस) नामक स्थान पर अवस्थित नाभिकीय संयंत्र में परमाणु रिएक्टरों में से एक के कोर के पिघलने के कारण हुई थी। इस दुर्घटना में 134 लोग गंभीर रूप से घायल हुए थे एवं 28 लोगों की मृत्यु हो गयी थी। इस आपदा ने 1,55,000

वर्गकिमी0 क्षेत्र को प्रभावित किया था जिसमें 70 लाख लोग निवास करते थे।

4.5.17 कोयले की खान में आग लगना

हमारे देश में ऊर्जा की आवश्यकता का 60% कोयले पर आधारित है। कोयले के खनन में 6.5 लाख श्रमिकों को प्रत्यक्ष रूप से तथा 1 करोड़ लोगों को अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार मिलता है। कोयले की खानों में आग लगने का मख्य कारण कोयले का स्वत: प्रज्वलित होना है। साधारणत: कार्बन तथा कार्बन डाइ आक्साइड के हवा के सम्पर्क में आने पर उसका आक्सीकरण होता है और इस क्रिया में ऊर्जा का निकास होता है जिसके कारण कभी कभी तापमान 35 से 95 डिग्री तक चला जाता है और तब खान में स्वत: आग लग जाया करती है। ऐसी स्थिति में खान के अन्दर कार्य करने वाले कामगारों एवं श्रमिकों को बहूत अधिक नुकसान होने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त खदानों में आग के अन्य कारणों में मानव की असावधानियां जैसे बिद्युत सार्टसर्किट, गर्म राख को फैंका जाना या जलती हुई सिगरेट का फैंका जाना आदि हो सकता है।

4.6 आपदा प्रबंधन चक्र

आपदा प्रबंधन चक्र से अभिप्राय उन सभी अवस्थाओं से है जिनकी आवश्यकता किसी प्राकृतिक या मानवनिर्मित आपदा से जन, धन, संपत्ति या संपूर्ण परितंत्र को बचाने में

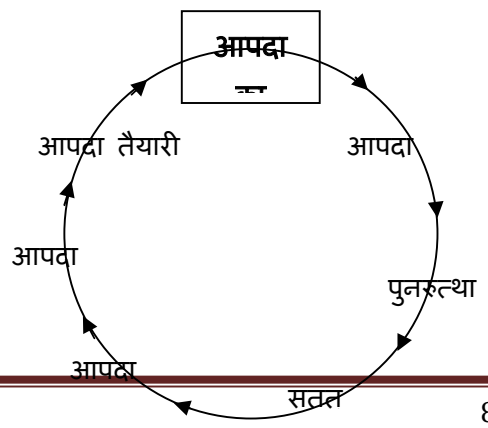

आपदा प्रबंधन चक्र

पड़ती है। ये अवस्थाएं हैं- आपदा रोकथाम, आपदा न्यूनीकरण, आपदा तैयारी (आपदा पूर्व की अवस्था), आपदा अनुक्रिया, आपदा पुनरुत्थान एवं सतत् विकास हैं। इसे निम्नांकित चित्र के माध्यम से भी समझाया जा सकता है:

4.7 आपदापूर्व आपदा प्रबंधन: आपदा तैयारी

आपदा पूर्व आपदा प्रबंधन का मतलब उन सभी उपायों से है जिसके द्वारा आपदा की स्थिति को तीव्र गति से निपटा जा सकता है। अर्थात वह सभी उपाय जो सरकारों, संगठनों, समुदायों और व्यक्तियों को आपदा की परिस्थितियों में तीव्र गति से और प्रभावी ढंग से प्रतिक्रिया हेतु सक्षम बनाता है, को आपदा तैयारी कहा जाता है। आपदा तैयारी उपायों में आपदा योजनाओं का निर्माण, संसाधनों का रखरखाव और कर्मियों के प्रशिक्षण शामिल होता हैं।

इसमें किसी संकट या खतरे के पूर्वानुमान से मानव समाज, संपत्ति या परितंत्र को संभावित हानिकारक प्रभावों को रोकने से संबंधित उपाय शामिल होते हैं ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि किसी संकट के आने से उत्पन्न आपदा से कम से कम हानि हो। इन उपायों में आपदा रोकथाम, आपदा तैयारी एवं आपदा न्यूनीकरण उपाय शामिल होते हैं। आपदापूर्व प्रबंधन की शुरूआत खतरे की पहचान एवं उससे जन धन को संभावित हानियों का आकलन करने से होती है ताकि आपदा के पूर्व ही वित्तीय, ढांचागत या अन्य प्रकार की तैयारियां की जा सकें और इस प्रकार उचित निर्णय लिये जा सकते है कि कौन-कौन से कमजोर पक्ष है और कहाँ व कितना निवेश किया जाना है और इस प्रकार एक समुचित परियोजना को

समय पर डिज़ाइन करने में मदद मिल जाती है ताकि आपदाओं के घटित होने पर उसके गम्भीर प्रभावों को सह सकें और मानव समाज एवं परितंत्र में न्यूनतम प्रभाव पड़े। इस प्रकार आपदा पूर्व आपदा प्रबंधन में जोखिम क्षेत्रों का पुर्वानुमान लगाना, उसके हानिकारक प्रभावों का निर्धारण का प्रयास और तद अनुसार समुचित सावधानी बरतना, मानव संसाधन व वित्त जुटाना आदि आपदा पूर्व प्रबंधन के विभिन्न अंग है।

इस प्रकार इस चरण को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:

- संकट (खतरे), जोखिम एवं संवेदनशीलता: समझ, रोकथाम एवं न्यूनीकरण
- आपदा तैयारी

4.6.1 जोखिम एवं संवेदनशीलता की समझ, रोकथाम एवं न्यूनीकरण

आपदपूर्व आपदा प्रबंधन हेतु सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की होती है कि किसी क्षेत्र विशेष में विभिन्न प्रकार के संकटों की पहचान करना और संभावित जौखिम एवं उसकी संवेदनशीलता का आंकलन करना। संयुक्त राष्ट्र के आपदा न्यूनीकरण के लिए अंतर्राष्ट्रीय कार्यनीति ने 'खतरे' को निम्नलिखित प्रकार परिभाषित किया है:-

"संभावित रूप से ऐसी क्षतिकारी भौतिक घटना, दृश्य घटना या मनुष्य की गतिविधि के रूप में की है जिससे जीवन को क्षति पहँचती है, संपत्ति की हानि होती है, सामाजिक एवं आर्थिक विघटन होता है या पर्यावरणीय ह्रास होता है"

खतरे या संकट प्राकृतिक प्रक्रियाओं का परिणाम हो सकते हैं या मानवीय क्रियाओं से प्रेरित हो सकते हैं या प्राकृतिक एवं मानवीय दोनों कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं। अतः आपदा पूर्व प्रबंधन हेतु यह आवश्यक होता है कि

संभावित खतरों का अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाए और उनके संभावित कारणों एवं संभावित प्रभावों को समझा जा सके।

खतरे या संकट की पहचान के बाद जोखिम की समझ आवश्यक है। खतरे बहुत प्रकार के हो सकते हैं लेकिन कौन सा खतरा या संकट किसी क्षेत्र विशेष में आपदा उत्पन्न कर सकता है, इसे समझने के लिए क्षेत्र की संवेदनशीलता एवं जोखिम को समझना अनिवार्य होता है ताकि क्षेत्र विशेष के लिए जोखिमयुक्त खतरों के अनुसार आपदा पूर्व प्रबंध योजना बनायी जा सके। जोखिम को संयुक्त राष्ट्र के आपदा न्यूनीकरण के लिए अंतर्राष्ट्रीय कार्यनीति के द्वारा निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया गया है :-

"प्राकृतिक एवं मानव प्रेरित खतरों और संवेदनशील दशाओं के बीच अंत:क्रियाओं से उत्पन्न हानिकारक परिणामों की संभावना या प्रत्याशित क्षति के रूप में की गयी है"।

जोखिम को खतरे एवं संवेदनशीलता का गुणक भी कहा जाता है अर्थात किसी क्षेत्र विशेष में विभिन्न प्रकार के खतरे हो सकते हैं लेकिन जब तक उन खतरों हेतु क्षेत्र विशेष की संवेदनशीलता कम है तो उनसे संभावित जोखिम भी कम होगा लेकिन जैसे ही प्राकृतिक या मानवीय कारणों से क्षेत्र विशेष में किसी खतरे विशेष हेतु संवेदनशीलता में वृद्धि होती है तो उस खतरे के आपदा में परिणत होने का जोखिम बढ़ जायेगा या आपदाग्रस्त क्षेत्र में जोखिम के हानिकारक प्रभावों में वृद्धि हो जाएगी। उदाहरण के लिए 'भूस्खलन' पहाड़ी क्षेत्रों में एक प्रकार का खतरा है जिसकी सामान्यत पहाड़ी परिस्थितियों में संवेदनशीलता कम होने पर जोखिम भी कम होता है। लेकिन अत्यधित वर्षा के कारण या अत्यधिक वन दोहन के कारण या दोनो ही के संयोजन के कारण क्षेत्र विशेष में भूस्खलन के जोखिम में वृद्धि हो

जाती है और कभी भी वह क्षेत्र विशेष भूस्खलन से आपदाग्रस्त हो सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संवेदनशीलता के कारण किसी खतरे का जोखिम बढता या घटता है।

4.6.2 संवेदनशीलता के मुख्य कारक

अब प्रश्न यह उठता है कि किसी क्षेत्र विशेष की संवेदनशीलता किन कारकों पर निर्भर करती है? वैसे तो सूक्ष्म स्तर पर देखने पर भिन्न-भिन्न प्रकार की आपदाओं के संवेदनशीलता के कारक भिन्न-भिन्न हो सकते हैं तथापि इन कारकों कुछ मुख्य कारकों में विभाजित कया जा सकता हैं – सामाजिक कारक, आर्थिक कारक, भौतिक कारक, राजनैतिक कारक एवं पर्यावरणीय कारक। इन कारकों को संक्षेप में निम्नलिखित पैराग्राफ में समझाया गया है।

1. सामाजिक कारक: किसी भी आपदा की स्थिति में व्यक्तियों, परिवार एवं समुदाय की खुशहाली का सीधा प्रभाव खतरों के प्रति संवेदनशीलता पर पड़ता है। शिक्षा का स्तर, साक्षरता, सावधानी एवं सुरक्षा, सामाजिक समानता, जनजागररूकता, मजबूत सांस्कृतिक एवं सामाजिक नियम एवं विश्वास, नैतिकता, सुशासन इत्यादि ये सभी समुदाय की खुशहाली तथा लोगों के मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर सुनिश्चित होता है। एक ही समाज में विभिन्न समुदायों की आपदा के प्रति संवेदनशीलता समान नहीं होती है। उदाहरण के तौर पर अल्पसंख्यक समुदाय या महिलाएं या बच्चे या विकलांग समाज के अन्य लोगों की तुलना में अधिक

झोपड़ पट्टी एवं मलिन बस्तियों की संवेदनशीलता

झोपड़ पटिटयां या झुग्गी झोपडियां शहरों में बसा हुआ एक ऐसा समाज है जिनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भिन्न भिन्न होती हैं और देश के विभिन्न भागों से आकर कमजोर आर्थिकी के कारण ऐसे क्षेत्र में बस जाते हैं जहाँ की भौतिक एवं पर्यावरणीय दशा बहुत कमजोर होती है। ये बहुत ही न्यूनतम गुणवत्तायुक्त जीवन जीने के लिए बिवस रहते हैं। यहाँ प्राय: सफाई एवं स्वच्छता का अभाव रहता है, पीने योग्य शुद्ध जल का अभाव एवं स्वास्थ्य संबंधी सुविधाएं बहुत ही दयनीय स्थिति में होती हैं। एक अनुमान के आधार पर देश के शहरी क्षेत्रों में 52 हजार से अधिक झुग्गी झोपडियां मौजूद हैं और इनमें 1 लाख से ज्यादा परिवार रहते हैं। सबसे अधिक झुग्गी झोपडियां (32 प्रतिशत) महाराष्ट्र में, ततपश्चात प. बंगाल में (16 प्रतिशत) एवं आंध्रप्रदेश (15 प्रतिशत) में हैं। झुग्गी झोपडियां अक्सर विभिन्न प्रकार के खतरे एवं जोखिमों के प्रति संवेदनशील होते हैं जैसे आग लगना, महामारी फैलना, बाढ़, जलभराव इत्यादि।

झुग्गी झोपडियों की भौतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय स्थितियां इन्हें विभिन्न प्रकार के खतरों के प्रति संवेदनशील बनाते हैं। इनमें प्राय: जनसंख्या का दबाब, आवास, जल आपूर्ति, स्वच्छता एवं सफाई, महामारी एवं इनसे व्युत्पन्न् समस्याएं अक्सर देखी जाती हैं और इसके अतिरिक्त इनकी गरीबी संवेदनशीलता में और अधिक वृद्धि कर देती है। इन झुग्गी झोपडियों की दशा सुधारने के लिए सरकार द्वारा, स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा विशेष प्रयास किए जाने चाहिए ताकि उनकी संवेदनशीलता को कम किया जा सके।

संवेदनशील होते हैं। इसके अतिरिक्त समुचित जानकारी के अभाव में समुदाय की संवेदनशीलता में वृद्धि हो जाती है क्योंकि ऐसे लोग सूचना के अभाव में खतरे की घंटी के समय अनभिज्ञ रहते हैं और समुचिति निर्णय या प्रतिक्रिया के अभाव में सबसे अधिक प्रभावित हो जाते हैं। इसके विपरीत जागरूक समाज समय से या आपदा घटित होने से पूर्व विभिन्न प्रशासनिक चेतावनी का संज्ञान ले कर एवं अपने अनुभवों का समायोजन कर आपदा से निपटने के लिए तैयार रहते हैं और इस प्रकार उनकी खतरों के प्रति संवेदनशीलता कम हो जाती है।

2. आर्थिक कारक: किसी समुदाय की आर्थिक स्थिति का सीधा संबंध संवेदनशीलता से होता है। कोई भी समुदाय जिसकी आर्थिक स्थिति कमजोर होने पर यह किसी भी आपदा हेतु इसको संवेदनशील बना देती है। इसके कारण बहुत मेहनत के बाद जुटाए गये घरेलू संसाधन आपदा के साथ समाप्त हो जाते हैं और साथ ही आपदा के परिणामस्वरूप शारिरिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले असर को ये धन के अभाव में तुरंत दूर करने में अक्षम रहते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि यह दीर्घकाल तक उससे उबर नहीं पाते हैं और इस प्रकार एक आपदा इन्हें कालांतर में आने वाली अन्य आपदाओं हेतु और अधिक संवेदनशील बना देती हैं और इस प्रकार ऐसे समुदाय की विपरीत परिस्थितियों को झेलने की क्षमता बूरी तरह से प्रभावित होती है। इसके विपरीत तुलनात्मक रूप से धनी समुदाय या व्यक्ति आपदा की स्थिति में उसके विपरीत परिणामों से शीघ्रातिशीघ्र उबरने में सक्षम होता है क्योंकि उसके पास बचत होती है, बीमा होता है, निवेश होता है या अन्य वित्तीय क्षमता होती हैं जो उसे विपरीत परिस्थितियों को झेलने में सहायता करते हैं। इसके अतिरिक्त आधारभूत सुविधाओं के अभाव में गरीब समुदाय

दूषित जल पीने को बाध्य रहता है जिससे उन्हें बिमारियों एवं महामारी का खतरा या जोखिम के लिए हमेशा संवेदनशील रहते है।

3. भौतिक कारक: भौतिक संवेदनशीलता से अभिप्राय व्यक्तियों या समुदायों की उनके भौतिक पर्यावरण की संरचना से संबंधित कारकों से संबंधित संवेदनशीलता से है अर्थात वह जिन परिस्थितियों में रहते हैं, उनके घरों की संरचना, घरों की गुणवत्ता, घरों के निर्माण में उपयोग किये गये पदार्थो की गुणवत्ता, तकनीक तथा आपातकालीन सेवाओं जैसे स्वास्थ्य, आपदा राहत संबंधी एवं अन्य सेवाओं की सुउपलब्धता यह सब समुदाय के भौतिक संवेदनशीलता के सूचक हैं। जनसंख्या घनत्व, समुदाय या गाँव की शहर से दूरी, सड़कमार्ग से दूरी, चिकित्सालय को होना या न होना इत्यादि भौतिक संवेदनशीलता को निर्धारित करते हैं।

4. राजनैतिक कारक: किसी समुदाय के आपदा या खतरों के प्रति संवेदनशीलता का स्तर का संबंध सीधे तौर पर विकास के प्रति राजनैतिक प्रतिबद्धता पर निर्भर करती है। सरकार, सरकारी सेवकों एवं चुने हुए प्रतिनिधियों के सक्रिय रूप से कार्य करने एवं आपदा पूर्व किसी भी खतरे से निपटने हेतु आवश्यक तैयारी से क्षेत्र एवं समुदाय की संवेदनशीलता काफी हद तक कम की जा सकती है और इसके विपरीत की स्थिति में स्थिति बड़ी भयावह हो सकती है। जोखिम न्यूनीकरण में राजनैतिक इच्छा का बड़ा ही अहम योगदान है।

5. पर्यावरणीय कारक: वह सब कारक जिनसे पर्यावरण को हानि पहुँचती है, समुदाय की खतरों के प्रति संवेदनशीलता में वृद्धि करते हैं। इसमें प्राकृतिक संसाधनों को क्षरण, अवमूल्यन, जैवविविधता का ह्रास एवं हमारे प्राकृतिक संसाधनों जैसे जल, मृदा एवं वायु को विषैले एवं खतरनाक प्रदूषकों से

प्रदूषित होना शामिल है। इसके अतिरिक्त निर्वनीकरण के द्वारा भूस्खलन में वृद्धि होती हैं, बाढ़ की आवृत्ति एवं भयावहता में वृद्धि होती है। जल श्रोतों के मानवीय अपशिष्ट पदार्थो से प्रदूषित होने से समुदाय में संक्रामक रोगों जैसे कालरा के प्रति संवेदनशीलता बढ़ती है।

यद्यपि विभिन्न प्रकार की आपदाओं के समय प्रबंधन के उपाय भिन्न भिन्न हो सकते हैं तथापि आपदा पूर्व प्रबंधन के उपाय बहुत अधिक भिन्न नहीं होते हैं। किसी क्षेत्र विशेष या समुदाय विशेष की विभिन्न आपदा या संकट संबंधी आपदापूर्व रोकथाम एवं न्यूनीकरण के उपाय निम्नांकित हो सकते हैं:-

- संवेदनशीलता न्यूनीकरण हेतु जनसंख्या वृद्धि दर का नियंत्रित किया जाना
- आधारभूत संरचना का सुदृढ़ीकरण किया जाना।
- संकटरोधी संरचना का निर्माण
- सामरिक नियोजन
- सामाजिक आधारभूत संरचना का निर्माण

4.6.3 आपदा तैयारी की अवधारणा एवं महत्व

आपदा तैयारी का अर्थ यह है कि किसी संभावित आपदा के घटित होने से पहले ही उन सभी उपायों को अपनाना या तैयारी करना जिससे कि उस आपदा को या तो घटित होने के रोका जा सके या आपदा के घटित होने के पश्चात एसी व्यवस्था की जाए कि न्यूतम लोग एवं न्यूनतम संपदा उससे प्रभावित हो। आपदा तैयारी में विभिन्न आयाम शामिल हैं और आपदा तैयारी की सफलता के लिए इन सबके समग्र रूप से क्रियान्वित किए जाने की आवश्यकता होती है। आपदा तैयारी हेतु सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, तकनीकी एवं मनोवैज्ञानिक जरूरतों पर विशेष से ध्यान देने की आवश्यकता

होती है। इनमें से किसी के भी अभाव में आपदा तैयारी अधूरी रह सकती है और आपदा घटने पर आपदा के प्रभाव गंभीर हो सकते हैं। आपदा तैयारी आपदा पूर्व प्रबंधन की एक महत्वपूर्ण सीढ़ी है जिससे किसी आपदा के घटित होने की दशा में उसकी विभिषिका से मानव समाज एवं उसकी संपत्ति को बचाया जा सकता है। आपदा पूर्व तैयारी में निम्नलिखित विंदु शामिल होते हैं:-

- संभावित आपदाओं के लिए जनजागरूकता
- आपदा संभावित क्षेत्रों या समुदायों का जानकारी या प्रशिक्षण से क्षमता विकास ताकि वे किसी भी समय आपदा घटित होने की स्थिति में उससे मुकाबला कर सकें।
- क्षेत्र में कार्यरत गैर-सरकारी संस्थाओं की क्षमता विकास किया जाना ताकि आपदा के समय वह लोगों की समुचित सहायता कर सकें एवं राहत कार्यक्रमों को उचित प्रकार से क्रियान्वित किया जा सके।
- विभिन्न संगठनों जिसमें सरकारी, गैर-सरकारी, निजी संस्थाएं, समुदाय एवं अन्य लोग शामिल हों के के बीच समन्वयन स्थापित किया जाना ताकि तैयारी संबंधी ठोस प्रयास किए जा सकें।
- समुदायों के आपदा संबंधी अनुभवों का अध्ययन किया जाना चाहिए और जहाँ जरूरी हो वहाँ लोगों के अनुभवों को क्रियान्वित करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए।
- राष्ट्रीय, राज्य, स्थानीय एवं समुदाय स्तर पर आपदा तैयारी योजनाओं का निर्माण किया जाना।
- संभावित खतरों और उनके आपदा में घटित होने की संभावनाओं और संबंधित जोखिमों को संबंधित संस्थानों या एजेंसी से जनसंचार के माध्यम से प्राप्त करना एवं जनसंचार का उपयोग कर संबंधित जनसमुदाय तक पहुँचाना।
- उचित पूर्वानुमान तथा चेतावनी संयंत्रों की स्थापना करना।

- आधारभूत ढांचे को आवश्यक मजबूदी प्रदान करना।
- खतरे संबंधी चेतावनी प्राप्त होने पर संबंधित समुदाय या व्यक्तियों को सुरक्षित स्थानों में पहुँचाना।
- आश्रय, भोजन, चिकित्सा तथा प्राथमिक उपचार सेवाओं का समय से समुचित प्रबंध किया जाना।
- राहत हेतु सुरक्षा बलों एवं अन्य संसाधनों की अग्रिम व्यवस्था करना।
- कुछ खतरे कभी भी कही भी आपदा में परिणत हो सकते हैं जैसे भूकम्प, और इन्हें पूरी तरह से नहीं रोका जा सकता है। ऐसी आपदाओं के लिए अग्रिम योजना बनाए जाने की आवश्यकता होती है ताकि आपदा घटित होने की स्थिति में इसके परिणामों को काफी हद तक कम किया जा सके।
- आपदा तैयारी संबंधी उपायों में आपदा चित्रण,आपदा तैयारी योजना का निर्माण, आपदा प्रबंधन हेतु भूमि उपयोग का वर्गीकरण, सूचना-संचार व प्रौद्योगिकी से जन समुदाय को तैयार किया जाना, पूर्वानुमान, पूर्वसूचना एवं चेतावनी तंत्रों की तैयारी शामिल है।

जहां तक आपदा तैयारी के महत्व का सवाल है वह इस बात से समझा जा सकता है कि आपदा हेतु तैयारी के अभाव में आपदा घटित होने की स्थिति में अधिकतम जनसमुदाय, संपत्ति एवं प्राकृतिक संसाधनों का विनाश होता है और इसके विपरीत यदि आपदा हेतु ठोस तैयारी होने पर यह विनाश न्यूनतम हो जाता हैं क्योंकि आपदा से निपटने हेतु पहले से संसाधन मौजूद होते हैं एवं आपदा की स्थिति में तीव्र एवं प्रभावी ढंग से आपदा स्थल पर प्रतिक्रिया उपलब्ध करा दी जाती है।

4.7 आपदा प्रबंधनः आपदा के दौरान

किसी संकट या खतरे के घटित हो जाने के पश्चात प्रभावित जनसुदाय उनके पालतु जानवर एवं संमपत्ति को बचाने पर जोर दिया जाता है। इस

हेतु जो भी उपाय आवश्यक होते हैं वह आपदा के दौरान आपदा प्रबंधन कहलाता है। इन उपायों में मुख्य रूप से आपदा प्रतिक्रिया एवं आपदा चिकित्सा को शामिल किया जाता है। आपदा प्रतिक्रिया के अंतर्गत आपदा प्रतिक्रिया योजना का निर्माण, आपदा प्रतिक्रिया योजना का क्रियान्वयन, आवश्यकताएं एवं क्षति का आंकलन, मानव व्यवहार एवं प्रतिक्रिया को नियंत्रित करना, आघात एवं तनाव प्रबंधन, अफवाह एवं आतंक प्रबंधन एवं राहत के उपाय शामिल होते हैं। इस प्रकार प्रभावितों के भौतिक, शारिरिक एवं मानसिक कारकों को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है।

आपदा चिकित्सा के अंतर्गत आपदा प्रभावितों को तुरंत चिकित्सा सुविधा मुहय्या कराना, जोखिम की रोकथाम, चिकित्सा तैयारी नियोजन, साजो सामान प्रबंध, आपदा के दौरान संभावित महामारी संबंधी अध्ययन एवं तद अनुसर आपदा चिकित्सा की तैयारी, आपदा स्थल प्रबंधन, विभिन्न आपदाओं के लिए चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अनुक्रिया, मनोवैज्ञानिक पुनर्वास इत्यादि शामिल है। इस प्रकार आपदा के दौरान आपदा प्रबंधन में मुख्यत: निम्नांकित प्रबंधन शामिल होता है:

- आपदा अनुक्रिया
- आपदा चिकित्सा

4.7.1 *आपदा अनुक्रिया*

आपदा अनुक्रिया वह उपाय हैं जो आपदा से तुरंत पहले एवं आपदा घटित होने के तुरंत बाद अपनाए जाते हैं। इन उपायों को अपनाए जाने का उद्देश्य मानव जीवन बचाव, संपत्ति की रक्षा और आपदा के कारण होने वाली तत्काल क्षति से निपटना होता है।

आपदा अनुक्रिया की उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हा जाता है कि इसका दायरा आमतौर पर बहुत व्यापक होता है और इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हमारी आपदा संबंधी तैयारी कितनी अच्छी है। अनुक्रिया संचालन आमतौर पर विनाशकारी और कभी-कभी दर्दनाक परिस्थितियां में करना पड़ता है। प्राय: उन्हें लागू करना आसान नहीं होता है क्योंकि इसके लिए कर्मियों, उपकरणों और अन्य संसाधनों की भारी आवश्यकता होती हैं। इसलिए ठोस आधारयुक्त योजना, संगठन और प्रशिक्षण का होना नितांत अनिवार्य होता है जिसके अभाव में आपदा अनुक्रिया का सफलतापूर्वक संचालन किया जाना संभव नहीं हो सकता है।

आपदा अनुक्रिया मुख्य रूप से दो कारकों पर निर्भर करती है यह हैं- सूचना एवं संसाधन। इनके अभाव में अत्यधिक सशक्त योजना होने पर या अत्यधित निपुण स्टाफ हो तो भी आपदा प्रतिक्रिया की सफलता सुनिश्चित नहीं की जा सकती।

4.7.1.1 आपदा अनुक्रिया की मुख्य विशेषताएं

आपदा के प्रभावों को प्रभावी तरीके से निपटने हेतु प्रभावी आपदा अनुक्रिया की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित प्रकार होती हैं:

- हताहतों की संख्या को सीमित होना,
- कठिनाई और पीड़ा को न्यूनतम किया जाना,
- आवश्यक जीवन समर्थन और सामुदायिक प्रणालियों की तुरंत बहाली,
- आपदा पश्चात क्षति और हानि का न्यूनतम किया जाना, और
- आपदा से हुए नुकसार की वसूली हेतु सुदृढ आधार प्रदान किया जाना

आपदा अनुक्रिया को प्रभावित करने वाले कुछ कारक होते हैं जिन पर अनुक्रिया की सफलता निर्भर करती है। ये कारक निम्नलिखित प्रकार होते हैं:

- आपदाओं के प्रकार पर आपदा अनुक्रिया काफी हद तक निर्भर करती है। आपदाएं स्वयं दीर्घकालिन, अल्पकालीन चेतावनी को इंगित करती हैं या फिर यह भी हो सकता है कि वह कोई चेतावनी को इंगित न करें। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से आपदा अनुक्रिया के सक्रियण और विभिन्न अनुक्रिया प्रयासों को प्रभावित करते हैं।
- आपदा की गंभीरता और आकार आपदा अनुक्रिया के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करता है। यह समस्या से निपटने के लिए अनुक्रिया प्रयासों की क्षमता, प्रतिक्रिया कार्रवाई की तात्कालिकता तथा प्राथमिकता, उचित कार्रवाई के अभाव में आपदा प्रभावों में वृद्धि तथा बाह्य सहायता हेतु आवश्यकताएं आदि को प्रभावित करता है।
- इससे आपदा के प्रभाव से पूर्व कार्रवाई करने की क्षमता प्रभावित होती है। यदि चेतावनी समय और अन्य स्थितियां अनुकूल हों और प्रभाव पड़ने से पूर्व-कार्रवाई होती है (जैसे निकासी, आश्रय और अन्य सुरक्षा उपाय) तो इसका समग्र प्रभाव प्रतिक्रिया की सफलता पड़ता है।
- आपदा अनुक्रिया की सफलता हेतु अनुक्रिया संचालन की निरंतर संचालन की आवश्यकता होती है। अर्थात अनुक्रिया को एक लंबी अवधि तक बनाए रखा जाना आवश्यक होता है तभी समुचित परिणाम सामने आते हैं। इसमें कई

कारक शामिल होते हैं जैसे संसाधन क्षमता, प्रबंधन, समुदाय आत्मनिर्भरता, और अंतरराष्ट्रीय सहायता।

- आपदा अनुक्रिया की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि संभावित अनुक्रिया आवश्यकताओं की पहले ही पहचान हो पाना सामान्यत: संभव होता है। आपदा अनुक्रिया की सफलता इस बात पर काफी निर्भर कीरती हैं कि संभावित आपदा अनुक्रिया की आवश्यकता ही पहचान कर ली गयी हो।

4.7.1.1 आपदा अनुक्रिया में संभावित समस्याएं

आपदा अनुक्रिया के दौरान कुछ कारक या समस्याएं हो सकती है जिसके कारण आपदा अनुक्रिया की सफलता प्रभावित हो सकती है। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है:

1. **पृष्ठभूमि कारक:** ये विशेष रूप से आपदा तैयारी से संबंधित होते है। जैसे पर्याप्त नीति दिशा की कमी, गरीब संगठन, और अपर्याप्त योजना।

2. **अपर्याप्त तैयारी:** इसके मुख्य कारण पुरानी योजनाएं, संसाधन संगठनों की ओर से तत्परता के निम्न मानकों का अपनाया जाना, जन जागरूकता में कमी और अप्रत्याशित परिमाण की आपदा, आदि हो सकते हैं।

3. चेतावनी संबंधी समस्याओं में अपर्याप्त चेतावनी लीड टाइम, आपदा प्रभाव के के कारण चेतावनी प्रणाली (रेडियो प्रसारण स्टेशन) में त्रुटि और चेतावनी के बाद लोगों की अनुक्रिया में विफलता।

4. अनुक्रिया प्रणाली की धीमे सक्रियण आपदा प्रतिक्रिया में समस्या उत्पन्न कर सकता है। यह चेतावनी कारक, सक्रियण की खराब प्रणाली, कार्यात्मक

तैयारी की कमी (आपातकालीन परिचालन केंद्रों का अभाव), प्रतिक्रिया प्रणाली के परीक्षण और क्रियान्वयन में कमी, और संयोगवस कुछ राष्ट्रीय घटनाओं का होना (उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय अवकाश होने पर प्रतिक्रिया में कमी आ जाती है)।

5. आपदा के प्रभाव और संकट दबाव के कारण आपदा अनुक्रिया में व्यवधान पहुँचता है। यह संचार में व्यवधान या हानि, योजनाबद्ध संसाधनों की उपलब्धता में देरी या उनका विनाश, महत्वपूर्ण प्रतिष्ठानों को नुकसान जैसे बिजली की आपूर्ति, आपातकालीन संचालन केंद्र व संचार सुविधाओं, आम तौर पर उच्च क्षति का स्तर, और प्रमुख आपदा कर्मियों के नुकसान आदि शामिल हैं।

6. नुकसान सर्वेक्षण और आवश्यकताओं के आकलन में आने वाली कठिनाइयां आपदा प्रतिक्रिया को प्रभावित करती है। यह आपदा प्रभाव के कारण प्रतिकूल मौसम की स्थिति, सर्वेक्षण हेतु विमान की कमी, जमीन सर्वेक्षण की कठिनाइयां, अपर्याप्त योजना और तैयारी, वाहनों या जहाजों को नुकसान होने इत्यादि के कारण हो सकता है।

7. गलत और / या अपूर्ण जानकारीयुक्त सर्वेक्षण भी अनुक्रिया को ऋणात्मक रूप से प्रभावित करता है। बेघर लोगों, भोजन और आश्रय रहित लोगों एवं चिकित्सा सहायता की आवश्यकता से संबंधित लोगों से संबंधित सर्वेक्षण के त्रुटिपूर्ण होने पर आपदा प्रतिक्रिया गंभीर रूप से प्रभावित होती है।

8. आपदा स्थल पर बहुत अधिक संख्या में लोगों एवं वाहनों के जमावड़े के कारण आपदा अनुक्रिया प्रभावित होती है।

9. निम्न सूचना प्रबंधन के कारण आपदा अनुक्रिया असफल हो सकती है। यह कई पहलुओं से उत्पन्न हो सकता है, जैसे कि जानकारी एकत्र करते समय, जानकारी के मूल्यांकन के समय, निर्णय लेने में, और निर्णयों और जानकारी के प्रसार के समय।

10. अपर्याप्त राहत वस्तुओं के कारण आपदा अनुक्रिया का प्रभावित होना। इसमें सामान्यत: खाद्य सामग्री, पेयजल, एवं शरणास्थल सामग्री जैसे टैंट आदि शामिल होते हैं।

11. साजोसामान प्रबंधन का अभाव भी अनुक्रिया को अत्यधिक प्रभावित करता है। इसमें राहत सामग्री के वितरण हेतु सड़क, रेल या वायु मार्गो में अवरोध के कारणा प्रतिक्रिया प्रभावित होती है।

12. जनजागरूकता के अभाव में सरकारी प्रतिक्रिया योजना को क्रियान्वित करने में कठिनाई आती है।

13. कई बार गंभीर आपदाओं हेतु अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भी आवश्यकता आ जाती है और यह यदि समय पर न मिले या अपर्याप्त हो या अनुचित हो तो इससे भी अनुक्रिया में कुप्रभाव पड़ता है।

4.7.2 आपातकालीन चिकित्सा अनुक्रिया

आपदा के दौरान चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अनुक्रिया में निम्नलिखित प्रबंधन शामिल हैं:

- आपात स्थल प्रबंधन
- अस्पताल आपात प्रबंधन
- स्वास्थ्य अनुक्रिया में जनसमुदाय की भागीदारी
- स्वास्थ्य अनुक्रिया में सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका

आपत स्थल प्रबंधन का मतलब आपदा स्थल पर आपदाग्रस्त लोगों की मदद करने से है। इसका मुख्य उद्देश्य लोगों को अधिकतम लोगों को चिकित्सा सहाययता उपलब्ध कराना है ताकि लोगों को मृत्यु से बचाया जा सके और महामारी व रोगों से बचाव हेतु समुचित उपचार मिल सके। आपदा स्थल प्रबंधन में आपातकालीन चिकित्सा सेवा शीघ्रातिशीघ्र आपदाग्रस्त लोगों को मुहय्या करायी जाती है और घायलों को अविलम्ब चिकित्सा शिविरों एवं अस्पतालों में पहुँचाने की व्यवस्था की जाती है।

आपदा स्थल प्रबंधन का एक आवश्यक विधि 'विधि' ट्राऐज कहलाती है जिसके मूल सिद्धांत यह है कि घायलों को उनकी गंभीरता के अनुसार वर्गीकृत कर प्राथमिकता तय की जाती है और इस प्रकार अस्पताल पहुँचाया जाता है। इस दौरान पुनरूज्जीवन प्रक्रिया भी साथ साथ शुरू की जाती है। आपदा स्थल प्रबंधन में संचार की अहम भूमिका होती है क्योंकि आपदा स्थल से अस्पताल की स्थिति को जानकर ही घायलों को किस अस्पताल भेजा जाना है यह आपदा स्थल पर ही सुनिश्चित किया जा सके अन्यथा की स्थिति में अनावश्यक विलम्ब घायलों के लिए जानलेवा हो सकता है।

आपदा स्थल प्रबंधन के लिए यह अनिवार्य है कि आपदा स्थल से अस्पताल तक घायलों के ले जाने हेतु एम्बुलेंस की समुचित व्यवस्था हो। आपदा स्थल प्रबंधन में चिकित्सा के अतिरिक्त प्रशासन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है ताकि कानून व्यवस्था बनी रहे, पेयजल की आपूर्ति बाधित ना हो और हताहतों को आपदा स्थल से बाहर निकाला जा सके और नजदीकी सड़क तक पहुँचाया जा सके।

आपातकालीन चिकित्सा अनुक्रिया को दूसरा चरण हताहतों के अस्पताल में पहुँचने के साथ आरम्भ होता है जिसे अस्पताल आपात प्रबंधन कहा जाता है। इसमें मुख्य रूप से अस्पताल में सभी कर्मियों की सावधानी, संचार व्यवस्था, आपातकालीन वार्ड की क्षमता विकास, हताहतों को अस्पताल में उपचार की प्राथमिकता के आधार पर वर्गीकरण, हताहतों की देखभाल, दस्तावेजीरण, चिकित्सा-कानूनी पक्ष एवं मृतकों को परिजनों या पुलिस को सौंपा जाना आदि अनुक्रिया शामिल है।

आपातकालीप अनुक्रिया में स्वयंसेवी संस्थाओं एवं समुदाय महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है क्योंकि इस दौरान सहायता हेतु केवन सैन्य बल या पुलिस बल पर्याप्त नहीं होता इसलिए समुदाय एवं स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। इसके अतिरिक्त सामान्य प्रशासनिक कार्यो एवं आपदा स्थल में स्वच्छता बनाये रखने में भी उनकी भूमिका आवश्यक होती है।

अंत में लेकिन एक अन्य महत्वपूर्ण अंग सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी है जिसके सुचारू एवं समुचित उपयोग से आपदा की त्रासदी को काफी हद तक कम किया जा सकता है और आपदा स्वास्थ्य अनुक्रिया बेहतर हो जाती है। सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के माध्यम से महामारी रोग विज्ञान का

सर्वेक्षण, टेली-मानीटरिंग, दस्तावेजों को सुरक्षित रखा जाना, चिकित्सा प्रतिलेखन, दस्तावेजीकरण, टेलीमेडिसन, टेलीकांफ्रेसिंग एवं जनजागरूमता अभियान में सहायता मिलती है।

4.8 आपदा प्रबंधनः आपदा के बाद

आपदा के बाद की अवस्था में अर्थात आपदा अनुक्रिया, राहत एवं आपातकालीन चिकित्सा के पश्चात उन उपायों को अपनाया जाता है जिनसे प्रभावित समुदाय को शीघ्रातिशीघ्र सामान्य अवस्था में लाया जा सके तथा प्रभावित क्षेत्र की संवेदनशीलता को कम किया जा सके ताकि आपदाग्रस्त क्षेत्रों में संवेदनशील स्थितियां पुनः उत्पन्न ना हों। इस प्रकार आपदाग्रस्त समुदाय में आपदा के कुप्रभावों से लड़ने की क्षमता विकसित की जा सके ताकि वह विकास कार्यो में बढ़ चढ़ कर योगदान दे सकें। यह वह अवस्था होती है जिसमें प्रभावित क्षेत्र को पुनः पुरानी या उससे बेहतर स्थिति में लाने का प्रयास किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से पुनर्वास, पुनर्निमाण एवं पुनरुत्थान शामिल होता है। गंभीर रूप से आपदा प्रभावितों के घरों को भी काफी नुकसान होता है। बहुत सी परिस्थितियों में आपदाग्रस्त क्षेत्र भवीष्य में और अधिक संवेदनशील हो जाता है तो ऐसी स्थिति में समुदाय के पुनर्वास की आवश्यकता उत्पन्न हो सकती है।

आपदास्थल में आपदा के पश्चात विभिन्न प्रकार की बुनियादी सेवाएं अस्त-व्यस्त हो जाती हैं जिसको पुर्नस्थापित किया जाना पुनर्निर्माण का लक्ष्य होता है। पुनर्निर्माण प्रयासों का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि प्रभावित संरचना को सुधार कर ऐसी स्थिति में लाना जैसी वह आपदा से पहले थी या प्रभावित संरचना को ओर अधिक बेहतर बनाने का प्रयास किया जाना

ताकि वह भविष्य मे आपदा हेतु कम न्यूनतम संवेदनशील हो। इसके अन्य उद्देश्यों में यह भी शामिल होता है कि बुनियादी संरचनाओं एवं सेवाओं को सर्वोत्तम बना दिया जाए।

आपदा पश्चात आपदा प्रबंधन के लिए समुचित निधियन की व्यवस्था करना एक बड़ी चुनौति होती है जिस पर इसकी सफलता या असफलता निर्भर करती है। इस हेतु केंद्र एवं राज्य सरकारों दोनों के पास आपदा प्रबंधन गतिविधियों हेतु योजनाएं होती हैं। आपदा पश्चात आपदा प्रबंधन हेतु केंद्र स्तर पर प्रधानमंत्री राहत कोष, राष्ट्रीय आकस्मिकता राहत कोष, और आपदा राहत के लिए राष्ट्रीय कोष एवं सांसद सदस्यों के पास स्थानीय विकास हेतु सांसद निधि की व्यवस्था हमारे देश में है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की बीमा योजनाएं जैसे स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना, राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना, बीज फसल बीमा, किसान क्रेडिट कार्ड, स्वनियोजित महिला संघ बीमा, बीमा कुंड आदि उपलब्ध हैं। हालांकि आपदा राहत कोष आपदा के समय तुरंत राहत एवं चिकित्सा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से राष्ट्रीय स्तर पर गठित फंड है तथापि इसमें भी कुछ चिन्हित प्राकृतिक आपदाओं जैसे चक्रवात, सूखा, भूकम्प, बाढ़, आग एवं ओलावृष्टि के आपदा प्रबंधन के सभी चरणों हेतु वित्तीय निधियन की व्यवस्था है।

4.9 **भारत मे आपदा प्रबंधन**

लातूर भूकम्प (1993) एवं उड़िसा चक्रवात (अक्टूबर 1999) के अनुभवों के पश्चात भारत सरकार द्वारा आपदा प्रबंधन के महत्व को समझा गया और आपदा प्रबंधन को प्रमुखता प्रदान करते हुए अगस्त 1999 में हाई पावर समिति (High Power Committee) का गठन किया गया। कालांतर में

गुजरात में भुज भूकत्प के घटित होने के पश्चात राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन समिति (National Committee on Disaster Management) का गठन किया गया ताकि देश में आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबंधन हेतु समुचित कार्ययोजना तैयार की जा सके। इस प्रकार HPC की संस्तुतियों के पश्चात भारत सरकार द्वारा सन् 2005 में आपदा प्रबंधन अधिनियम देश में लागू किया गया।

आपदा प्रबंधन अधिनियम, 2005 ने संपूर्ण देश में आपदा प्रबंधन हेतु राष्ट्रीय, प्रादेशिक, जिला एवं स्थानीय स्तर पर संस्थागत ढांचा बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस प्रकार राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन प्राधिकरण (National Disaster Management Authority- NDMA) का गठन हुआ जो आपदा प्रबंधन हेतु केंद्र स्तर पर शीर्ष निकाय है और जिसका अध्यक्ष भारत का प्रधानमंत्री होता है। इसी प्रकार राज्य स्तर पर राज्य आपदा प्रबंधन प्राधिकरण (State Disaster Management Authority- SDMA) बनाया गया जिसका अध्यक्ष राज्य का मुख्यमंत्री होता है। जिला स्तर पर जिला आपदा प्रबंधन प्राधिकरण (District Disaster Management Authority- DDMA) का गठन किया गया जिसका अध्यक्ष जिलाधिकारी होता है। इसके साथ ही जिला स्तर पर एक सह-अध्यक्ष (Co-chairman) का भी प्रावधान किया गया जो जिलापरिषद का निर्वाचित सदस्य होता है। इस आपदा प्रबंधन हेतु स्थानीय, राज्य एवं केंद्र स्तर के मुख्याओं को अध्यक्ष बनाया जाना इस बात का द्योतक है कि आपदाओं के प्रबंधन हेतु समुचित प्रतिक्रिया व सहायता द्रुत गति से मिल सके और इस प्रकार आपदाओं से होने वाली हानियों को न्यूनतम किया जा सके। इस अधिनियम के द्वारा देश में आपदा प्रबंधन राहत बल (National Disaster Management Force- NDRF) की आठ

बटालियनों का भी गठन किया गया जिसमें 10000 से अधिक निपुण सैनिक शामिल होते हैं जो आपदा के समय तीव्र गति से बचाव अभियान में मदद करते हैं। इसके साथ ही अधिनियम के द्वारा राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन संस्थान (National Institute of Disaster Management- NIDM) का गठन इस उद्देश्य के साथ हुआ कि इससे संस्थागत क्षमता विकास में सहायता मिलेगी।

आपदा प्रबंधन हेतु राष्ट्रीय नीति में छः स्तम्भ शामिल हैं जो इस प्रकार है- रोकथाम(Prevention), न्यूनीकरण (Mitigation), तैयारी एवं क्षमता विकास (Preparedness and capacity development), जनजागरूकता (Awareness generation), एनडीआरएफ का तीव्र परिचालन (Rapid Operationalisation of NDRF) और NIDM का अधिक सुदृढ़ीकरण।

4.10 आपदा प्रबंधन हेतु वित्तीय व्यवस्था

आपदा राहत कार्यक्रमों हेतु वित्तीय व्यवस्था हेतु राष्ट्रीय स्तर पर मुख्यतः दो कोष बनाए गए हैं जिनके द्वारा आपदा के समय तुरंत राहत सहायता हेतु वित्तीय साधन उपलब्ध कराये जाते हैं। ये कोष हैं:- **आपदा राहत कोष** (Calamity Relief Fund- CRF) एवं **राष्ट्रीय आपदा आकस्मिक निधि** (National Calamity Contingency Fund- NCCF)। आपदा राहत कोष (CRF) से चक्रवात, सूखा, भूकम्प, बाढ व भूस्खलन के समय प्रभावितों को तुरंत राहत प्रदान करने हेतु खर्चो का वहन किया जाता है। सन् 2000 में ग्यारहवें वित्त आयोग की संस्तुतियों के आधार पर राष्ट्रीय स्तर पर एक अन्य कोष के गठन का प्रावधान किया गया जिसे राष्ट्रीय आपदा आकस्मिक निधि (National Calamity Contingency Fund- NCCF) के नाम से जाना जाता है। इस योजना के प्रभाव में आने का वर्ष 2000-2001 वित्त वर्ष था। इसका

उद्देश्य भी चक्रवात, सूखा, भूकम्प, बाढ व भूस्खलन जैसी प्राकृतिक आपदाओं के समय प्रभावितों को तुरंत राहत प्रदान करने हेतु खर्चो के वहन में किया जाता है जो CRF कोष से अधिक व्यय होने की स्थिति में राज्य सरकारों द्वारा खर्च में लाया जाता है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि CRF या NCCF में उपलब्ध कोष केवल तुरंत राहत एवं पुनर्वास कार्यो हेतु ही खर्च किया जा सकता है। दीर्घकालीन पुन:र्निमाण कार्यो हेतु कोष की व्यवस्था अलग से योजनागत कोषों के द्वारा की जाती है।

राष्ट्रीय आपदा राहत कोष हेतु शुरूवात में रू.500 करोड़ केंद्र सरकार द्वारा प्रदान किए गए थे जिसके व्यय होने पर उसे पुन: केंद्रीय करों पर सीमित अवधि तक विशेष सरचार्ज लगाकर पूर्ति की जाती है।

दीर्घकालीन पुनर्वास एवं निर्माण कार्यो हेतु पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से वित्तीय व्यवस्था की जाती है जिससे कि पेयजल, सड़क, रोजगार, कृषि एवं बाढ नियंत्रण उपाय किए जाते हैं।

अभ्यास प्रश्न

अ) बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राष्ट्रीय स्तर पर आपदा प्रबंधन हेतु कोष ---------- है।

   अ) सी.आर.एफ. ब) सी.जे.एफ. स) सी.आर.जे. द) सी.आर.एस.

2. आपदा प्रबंधन हेतु हाई पावर समिति (High Power Committee) के गठन का वर्ष था _____

   अ) 2000 ब) 1999 स) 1998 द) 2001

3. आपदा प्रबंधन अधिनियम लागू किए जाने का वर्ष _____ था -

   अ) 1999 ब) 2001 स) 2004 द) 2005

ब) निम्नलिखित पर लघुटिप्पणी लिखिये

4. आपदा प्रबंधन का महत्व समझाइये।
5. आपदा प्रबंधन के वित्तीय उपासय के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
6. आपदा प्रतिक्रिया एवं आपातकालीन चिकित्सा प्रबंधन को समझाइये।
7. आपदा प्रबंधन चक्र क्या है? संक्षेप में समझाइये।

4.11 सारांश

आपदा प्राकृतिक एवं मानवीय कारणों के द्वारा घटित होने वाली एक ऐसी घटना है जिसके परिणामस्वरूप समाज में सामान्य जनजीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है तथा मानव, जीव जंतुओं एवं संपत्ति को अत्यधिक हानि पहुंचती है। इन आपदाओं से होने वाली हानि को कम करने हेतु आपदा प्रबंधन के सिद्धांतों को अपनाया जाता है। आपदा प्रबंधन का अर्थ उन सब उपायों से होता है जिनके द्वारा विभिन्न प्रकार के संकटों या आपदाओं से होने वाले प्रभावों को न्यूनतम किया जाता है ताकि मानव समाज, जनजीवन घरेलू पशु, जीव जंतुओं, सम्पत्ति एवं पारिस्थितिक तंत्र को इसके हानिकारक प्रभावों से बचाया जा सके। सामान्य रूप से आपदा प्रबंधन आपदा तैयारी एवं राहत व पुनर्वास शामिल होता है। खतरों तथा उनसे व्युत्पन्न आपदाओं को दो भागों में प्राकृतिक खतरे तथा उनके द्वारा व्यूत्पन्न प्राकृतिक आपदाऐं एवं मानवजनित खतरें तथा उनके द्वारा व्युत्पन्न आपदाएं में विभक्त किया जा सकता है। सामान्यत: आपदाओं के कारण जीवन की क्षति, चोट, संपत्ति को हानि एवं विनाश, आवश्यक सेवाओं में व्यवधान, राष्ट्रीय संरचनात्मक ढांचों को हानि एवं सरकारी तंत्र में व्यवधान, राष्ट्रीय आर्थिक हानि, आपदा पश्चात सामाजिक एवं मानसिक प्रभाव देखे गए हैं। आपदा प्रबंधन की विभिन्न अवस्थाओं को आपदा प्रबंधन चक्रके माध्यम से समझा जा सकता है जिसमें छ: अवस्थाएं होती हैं यथ आपदा रोकथाम,

आपदा न्यूनीकरण, आपदा तैयारी (आपदा पूर्व की अवस्था), आपदा अनुक्रिया, आपदा पुनरुत्थान एवं सतत् विकास। इन समस्त अवस्थाओं को या उपायों को आपदा प्रबंधन के दृष्टिकोण से तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है यथा आपदापूर्व आपदा प्रबंधन, आपदा के दौरान आपदा प्रबंधन एवं आपदा के पश्चात आपदा प्रबंधन।

भारत सरकार द्वारा आपदा प्रबंधन के महत्व को समझते हुए आपदा प्रबंधन अधिनियम (2005) को लागू किया । इस अधिनियम में संपूर्ण देश में आपदा प्रबंधन हेतु राष्ट्रीय, प्रादेशिक, जिला एवं स्थानीय स्तर पर संस्थागत ढांचा बनाने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। आपदा प्रबंधन हेतु वित्तीय व्यवस्था हेतु राष्ट्रीय स्तर पर मुख्यत: दो कोष आपदा राहत कोष (CRF) एवं राष्ट्रीय आपदा आकस्मिक निधि (NCCF) बनाए गए हैं जिनके माध्यम से चक्रवात, सूखा, भूकम्प, बाढ़ व भूस्खलन के समय प्रभावितों को तुरंत राहत प्रदान करने हेतु खर्चो का वहन किया जाता है।

संदर्भ साहित्य

1. Khan, A.A. 2001. In Understadning Natural Disasters. IGNOU Publication, New Delhi, India.
2. Carter, W. Nick. 2008. Disaster management: a disaster manager's handbook. Mandaluyong City, Phil.: Asian Development Bank. Pp 391.
3. **IUCN 2009.** Chris Wood. *World Heritage Volcanoes*, Gland, Switzerland. Pp 70.
4. GOI 2011. Disaster Management in India. Ministry of Home Affairs, GOI. Pp 235.
5. Roach, I. and Bear-Crozier, A. (eds.) 2018. Volcanoes: teacher notes and student activities. Record 2017/23. Geoscience Australia, Canberra. http://dx.doi.org/10.11636/Record.2017.023.

इकाई 5

पर्वतीय क्षेत्रों में विकास की चुनौतियां (Challenges of Development in Hilly Areas)

5.0: उद्देश्य

5.1: परिचय

5.2: सतत विकास

- पर्वतीय क्षेत्रों में नियोजन व विकास के माध्यम
- जल प्रबंधन
- भूउपयोगिता विश्लेषण
- वहन क्षमता विश्लेषण
- जलवायु सचेत भवन प्रारूप

5.3: पर्वतीय क्षेत्रों की समस्याएं

5.4: अनुशंसा

- पर्वतीय दृष्टिकोण एवं संवेदनशीलता
- शिक्षा एवं कौशल विकास
- प्राकृतिक संसाधन विश्लेषण एवं सुझाव केन्द्र
- पर्यावरण मूल्यांकन
- वित्तीय प्रोत्साहन, पुरस्कार एवं छूट
- भारतीय हिमालयी क्षेत्र में संसाधनों का वितरण
- जलमार्ग एवं रज्जूमार्ग
- कचरा प्रबंधन
- त्वरित आपदा राहत एवं शमन
- उद्योग
- जलवायु परिवर्तन
- नेशनल मिशन फॉर सस्टेनिंग हिमालयन इकोसिस्टम

5.5: सन्दर्भ

5.0: उद्देश्य (Objectives)

भारतीय हिमालयी क्षेत्र (IHR) में विकास की चुनौतियों का दस्तावेजीकरण।

5.1: परिचय (Introduction)

भारतीय हिमालयी क्षेत्र को प्रकृति ने पारिस्थितिकीय विविधता, सबसे विस्तृत वनक्षेत्र, समृद्ध वनस्पति एवं जीव विविधिता, अद्वितीय पर्यावास, प्रचुर जल संसाधन और विविध सामाजिक–सांस्कृतिक समूहा प्रदान किये हैं। यह न सिर्फ इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों मूल्यवान पारिस्थितिकीय सेवाएं और आजीविका प्रदान करता है, बल्कि हिमालयी क्षेत्र से नीचे मैदानी इलाकों में रहने वालों और यहां तक कि देश से बाहर के लोगों को भी यह सेवाएं प्रदान करता है। हालांकि, जलवायु परिवर्तन के कारण हिमालय की वानस्पतिक एवं जीव विविधता में बुनियादी एवं संयोजनात्मक परिवर्तन निरंतर हो रहे हैं। यह दुर्गम भौगोलिक क्षेत्र है, जहां कृषि–जलवायु विविधता मिलती हैं, प्राकृतिक आपदाओं का खतरा बना रहता है, जबकि कमजोर ढांचागत विकास, पहुंच के अवसरों के अभाव के कारण कमजोर सामाजिक–आर्थिक विकास इस क्षेत्र को देश के बाकी हिस्सों से पीछे कर देता है। हर साल बाढ़, भूस्खलन और वनों में आग की घटनाएं जीवन, संपत्ति और प्राकृतिक संसाधनों को भारी नुकसान पहुंचाती हैं। चिंता का विषय यह है कि आपदा की ये घटनाएं नियमित होने लगी हैं। हिमालयी पर्वत श्रृंखलाएं अपेक्षाकृत कम उम्र की हैं, जहां सक्रिय टेक्टोनिक प्लेटों के कारण अस्थायी ढलान मौजूद हैं और यहां का मौसम ऐसा है, जिसका पूर्वानुमान लगा पाना कठिन होता है। परिणामस्वरूप, यह क्षेत्र बाढ़, भूकंप, भूस्खलन जैसी प्राकृतिक आपदाओं के लिहाज से अतिसंवेदनशील है। क्षेत्र में निरंतर बढ़ते मानवीय दबाव, अवैज्ञानिक विकास, प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन और जलवायु परिवर्तन ने हाल के दौर में हिमालयी क्षेत्र की पारिस्थितिकी को खासा नुकसान पहुंचाया है। क्षेत्र में प्राकृतिक आपदाओं की निरंतर पुनरावृत्ति की यह भी बड़ी वजह है।

Figure 1.

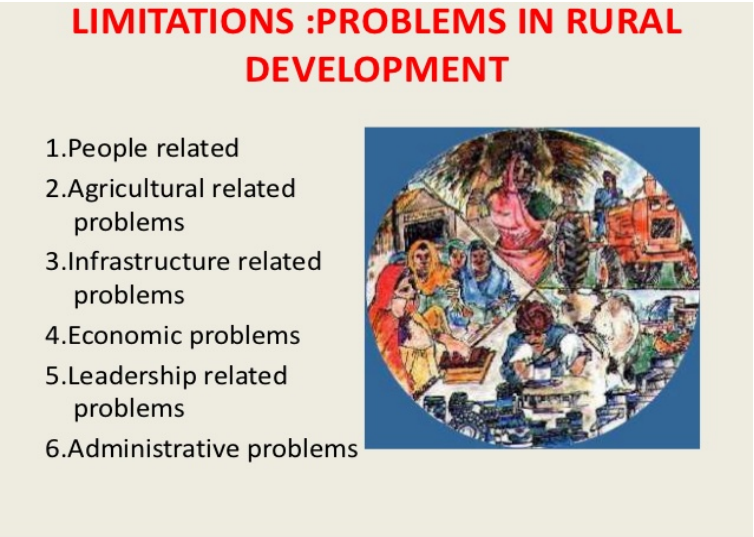

भारतीय हिमालयी क्षेत्र (IHR) से जुड़े मुद्दे बहुआयामी और जटिल हैं, जो सामाजिक, आर्थिक और पारिस्थितिकीय चिंताओं से जुड़े हुये हैं। इसके चलते ऐसी विकास नीतियों की आवश्यकता होती है जो प्राकृतिक, सामाजिक–सांस्कृतिक और सामाजिक–आर्थिक तथा पर्यावरणीय संसाधनों का विश्वसनीय एवं समग्र आंकड़ों पर आधारित हों। इसीलिये भारतीय हिमालयी क्षेत्र में तेज और समग्र विकास के लिये एकल खिड़की (Single Window) व्यवस्था का प्रस्ताव दिया गया है। वैश्विक पर्वत तंत्र में हिमालय सर्वाधिक जटिल एवं सबसे अधिक विविधताओं वाला पर्वत क्षेत्र है। यह एशिया महाद्वीप के उत्तरी (तिब्बत, चीन,

साइबेरिया आदि) और दक्षिणी भागों को अलग करता है। क्षेत्र की अलग भौगोलिक एवं पारिस्थितिकी समृद्धि का धरती के जैवविविधता तंत्र में प्रमुख योगदान है। यह विस्तृत पर्वत श्रृंखला (2500 किलोमीटर लंबी, 80 से 300 किलोमीटर तक चौड़ी और जमीन से आठ हजार मीटर तक ऊंची) न सिर्फ अपनी स्वयं की विशिष्ट जलवायु का निर्माण करती है, बल्कि एशिया की जलवायु को भी वृहद पैमाने पर प्रभावित करती है (Zobel & Singh, 1997)।

स्थलीय लिहाज से इस क्षेत्र में तीन आयामी विशिष्टताओं (अक्षांशीयः दक्षिण–उत्तर, देशांतरीयः पूर्व–पश्चिम तथा उच्चताः नीचा–ऊंचा) के कारण मौसम एवं पर्यावास संबंधी विविधताएं नजर आती हैं। हिमालय की उपत्ति करीब 55 लाख वर्ष पूर्व 'पेनिन्सुलर इंडिया प्लेट' और 'यूरेशियन प्लेट' के टकराव के परिणामस्वरूप मानी जाती है। हालांकि, हिमालयी श्रृंखला के निर्माण की यह एकमात्र घटना नहीं थी। निरंतर अस्थायी एवं स्थानिक भौगोलिक परिवर्तनों के चलते हिमालयी क्षेत्रों में भी अलग–अलग स्थानों पर मौसम के साथ भौगोलिक, भूगर्भीय एवं जैविक तत्वों के आधार पर विविधताएं देखी जाती हैं। हिमालय को पांच जैव–भौगोलिक क्षेत्रों का संयोजन बिन्दु माना जाता है, ये हैंः Palaearctic; Mediterranean; Indo-Chinese; Indo-Malayan और Peninsular India. जैवविविधता की यह स्थानिक स्थिति एवं विषमरूप वितरण ने क्षेत्र में जैव–भौगोलिक जटिलता का निर्माण किया है।भारतीय हिमालयी क्षेत्र वैश्विक पारिस्थितिकी में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भूगर्भीय लिहाज से नये और कम उम्र की यह पर्वत श्रृंखला न सिर्फ मौसम के लिहाज से अहम है, बल्कि आजीविका के संसाधन उपलब्ध कराने, भारतीय उपमहाद्वीप के बड़े हिस्से को जल देने और पादप, जीव–जन्तुओं की प्रचुर प्रजातियों के साथ यह मानवीय समुदायों, सांस्कृतिक विविधता के लिहाज से भी महत्वपूर्ण है। लेकिन, प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता के बावजूद हिमालयी क्षेत्रों में रहने वाले अधिकतर लोग हाशिये पर हैं और उनका आजीविका का स्तर पर भी अन्य क्षेत्रों के मुकाबले कमतर है। प्राकृतिक संसाधनों का अवैज्ञानिक दोहन इस क्षेत्र में पर्यावरणीय नुकसान और इसके चलते प्राकृतिक आपदाओं की बड़ी वजह बन रहा है। ऐसे में हिमालयी क्षेत्र में आर्थिक लाभ और पारिस्थितिकी परिस्थितियों में सामाजिक–सांस्कृतिक सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए संतुलन के नये मानकों की जरूरत है।

Table 1: भारतीय हिमालयी राज्य (Indian Himalayan States)

Sl.	State/region	% share of geographical area in the Indian Himalayan Region (IHR)
1	Jammu & Kashmir	41.65
2	Himachal Pradesh	10.43
3	Uttarakhand	10.02
4	Sikkim	1.33
5	West Bengal hills	0.59
6	Meghalaya	4.20
7	Assam hills	2.87
8	Tripura	1.97
9	Mizoram	3.95
10	Manipur	4.18
11	Nagaland	3.11
12	Arunachal Pradesh	15.69

बिजली, सड़क, सिंचाई आदि जैसे अवस्थापना ढांचे के विकास के लिहाज से पर्वतीय क्षेत्र पीछे हैं। अवस्थापना विकास में अंतर्जनपदीय स्तर पर असमान वितरण मैदान और पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों की आय और आजीविका के स्तर में भी असमानता की वजह बनता है। आय के निम्न साधन भौतिक संसाधनों के कम उपभोग और इनसे वंचित रहने की स्थिति को भी पैदा करते हैं। इसके कारण शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं तक भी इस क्षेत्र के लोगों की पहुंच कम रहती है, जो निर्धनता के एक निरंतर चक्र का कारण बनती है। पर्वतीय क्षेत्रों में तीन चौथाई से अधिक आबादी आजीविका के लिये कृषि पर ही निर्भर रहती है। हालांकि, यहां भूस्वामित्व बेहद सीमित और बिखरा हुआ होता है, जबकि सिंचाई की सुविधाएं भी बेहद कम होती हैं। मिट्टी एवं जल संरक्षण का अभाव भी बड़ी समस्या है। पर्वतीय क्षेत्रों में भौतिक, भौगोलिक एवं पर्यावरणीय कारणों से आधुनिक खेती को बढ़ावा देने में बाधा बनी रहती है। परिणामस्वरूप पर्वतीय क्षेत्रों की अधिकतर ग्रामीण आबादी या तो बेहद सीमित कृषि के माध्यम से ही आजीविका पर निर्भर रहती है, या फिर रोजगार और आय के बेहतर साधनों की तलाश में पहाड़ से देश के अन्य क्षेत्रों की ओर पलायन कर जाती है। ऐसी परिस्थिति में राज्य के समक्ष यह चुनौती बनी रहती है कि वह पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों को पर्वतीय क्षेत्रों में ही बनाये रखने के लिये स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर उपलब्ध कराकर उनकी आय में बढ़ोतरी और आजीविका में सुधार के लिये निरंतर प्रयास करता रहे।

Figure 2.

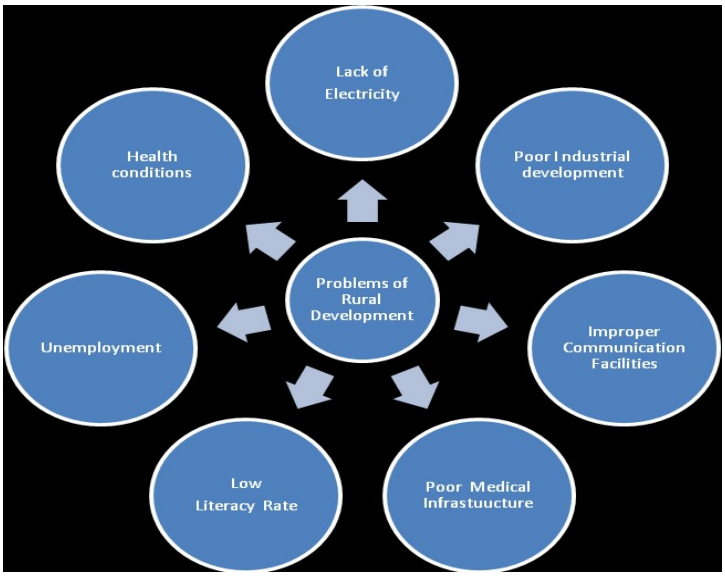

इस तरह पर्वतीय क्षेत्रों में आर्थिक और सामाजिक विकास की प्राथमिक जिम्मेदारी राज्य सरकार की बनती है। अपने प्रदेश उत्तराखंड की बात करें तो यहां प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता पर्यटन, कृषि और वनाधारित उद्यमों में निवेश के बेहतर अवसर उपलब्ध कराती है। उत्तराखंड देश का पहला राज्य है, जिसने पर्यटन विकास परिषद का गठन किया है। इसके अलावा इसे पहले जैविक राज्य (Organic State) का भी दर्जा मिला है। कृषि और कृषि आधारित ऐसे तंत्र का विकास जो उद्यम और पर्यटन विकास से भी जुड़ा हुआ हो, पर्वतीय क्षेत्रों में समग्र विकास का माध्यम बन सकता है। भूमि की उत्पादकता बढ़ाने और इसे सतत बनाये रखने के लिये जल प्रबंधन महत्वपूर्ण है। पर्वतीय कृषि के लिये उपयोगी गुणवत्तायुक्त बीजों की उपलब्धता, बहुफसली उत्पादन और पशुपालन, मौनपालन, मत्स्यपालन को बढ़ावा भी लाभकारी हो सकता है। जैविक खेती और कृषि आधारित रोजगार अवसरों को प्रोत्साहित करना जरूरी है। फलों, सब्जियों के प्रसंस्करण, युवाओं के लिये प्रशिक्षण, बैंक एवं बीमा सुविधाओं के जरिये पर्वतीय क्षेत्रों में आजीविका के लिहाज से सुरक्षा एवं समर्थन प्रदान किया जा सकता है। इन सभी क्षेत्रों के साथ अवस्थापना

ढांचे और बेहतर शिक्षा व्यवस्था का विकास पर्वतीय क्षेत्रों को सतत विकास की दिशा में बढ़ाने के साथ यहां रहने वाले लोगों की आजीविका में सुधार तथा पलायन को रोकने में कारगर हो सकता है।

उत्तराखंड में भौगोलिक असमानता पर्वतीय और मैदानी क्षेत्रों को एक–दूसरे से अलग करती हैं। इन भौगोलिक परिस्थितियों का असर बिजली, सड़क और सिंचाई जैसी अवस्थापना के विकास में असमानता के रूप में दिखता है। अंतर्जनपदीय अवस्थापना का असमान वितरण मैदानी और पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों की आय और आजीविका में भी असमानता की वजह बनता है, जिसके परिणामस्वरूप पर्वतीय क्षेत्रों में मैदानी क्षेत्रों के मुकाबले काफी कम विकास दिखता है। विभिन्न शोध और अध्ययन बताते हैं कि इस परिस्थिति से निपटने के लिये दीर्घकालिक नियोजन जरूरी है। इसका पहला कदम उन सेक्टर की पहचान करना है, जो विकास में बाधा बनते हैं और उन क्षेत्रों को जानना भी, जहां पर्वतीय क्षेत्र तुलनात्मक रूप से लाभ की स्थिति में हैं। मौजूदा अवस्थापना ढांचे की स्थिति स्पष्ट रूप से पर्वतीय क्षेत्रों के विकास में बड़ी बाधा है। शोध बताते हैं कि पर्वतीय क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, औद्यानिकी, पर्यटन के क्षेत्र में अवस्थापना विकास की सबसे अधिक जरूरत है। इनके जरिये ही उत्तराखंड के पर्वतीय क्षेत्रों में समग्र और सतत विकास के लक्ष्य को हासिल कर पाना संभव हो सकता है।

राज्य का दृष्टिकोण मानव और आर्थिक विकास दोनों को एकसाथ लेकर चलने से है (Dewan and Bahadur, 2005) और आर्थिक विकास ऐसा होना चाहिये जो पर्यावरण संरक्षण को समर्थन करे। सामाजिक विकास के लिहाज से देखें तो समाज की महिलाओं, युवाओं और बच्चों का विकास सबसे महत्वपूर्ण हो जाता है। यहां युवाओं के विकास का तात्पर्य प्रशिक्षण, रोजगार के बेहतर अवसर और उन्हें स्वावलंबी बनाने से है। उन्हें रोजगार और स्वरोजगार दोनों हासिल करने योग्य होना चाहिये। बच्चे राज्य का भविष्य हैं, ऐसे में उनकी शिक्षा पर जोर दिया जाना जरूरी है। यह चरणबद्ध नियोजित तरीके से निर्धनता को दूर करने में भी मददगार होगा। राज्य की सामाजिक स्थिति की बेहतरी के लिये स्वास्थ्य, पेयजल उपलब्धता, सफाई, सड़क, बाजार, संचार जैसे अवस्थापना विकास पर ध्यान देना भी जरूरी है। कृषि उत्पादन और पारंपरिक से आधुनिक व्यवस्था तंत्र की ओर बढ़ने का अभियान राज्य और इसके जिलों के विकास के लिये महत्वपूर्ण है।

Figure 3.

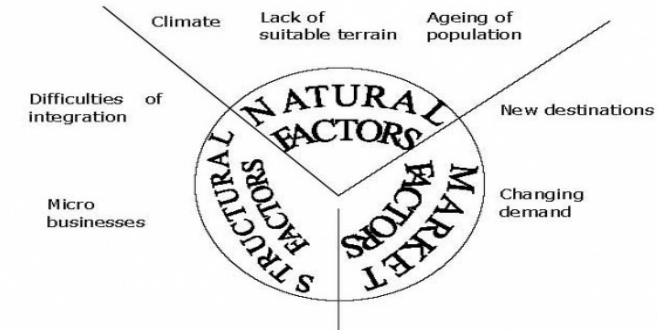

शेखर (2007) बताते हैं कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। उत्तराखंड में युवा पुरुष आमतौर पर रोजगार की तलाश में मैदानी क्षेत्रों की ओर पलायन कर जाते हैं, जबकि गांवों में खेती, बच्चों और बुजुर्गों की देखभाल का जिम्मा महिलाओं पर ही रहता है। कृषि कार्य में महिलाओं के कठोर श्रम को कम करने के लिये वैकल्पिक आर्थिक गतिविधियों की पहचान करना आवश्यक है। मल्होत्रा (2005) स्पष्ट करते हैं कि राज्य की अर्थव्यवस्था में वनों की अहम भूमिका है। लकड़ी और ईंधन का सर्वाधिक

उत्पादन है, जबकि बांस, औषधियां, रेशे आदि का उत्पादन इसके बाद आता है। उद्योगों, भवनों, रेलमार्ग और अन्य क्षेत्रों को कच्चा माल उपलब्ध कराने का सबसे महत्वपूर्ण साधन वन ही हैं, लेकिन ईंधन, चारे और लकड़ी की आवश्यकता की पूर्ति के लिये वनों पर बढ़ते दबाव ने अंधाधुंध दोहन को बढ़ावा दिया है। इसके चलते वनों के घनत्व पर असर पड़ने के साथ वनों की उत्पादन क्षमता भी प्रभावित हुयी है। हालांकि, राज्य में खाली पड़ी अधिकतर जमीन को सिर्फ पानी और मृदा संरक्षण के बुनियादी मानकों को पूरा कर दोबारा उत्पादनोपयोगी बनाया जा सकता है, जिसके लिये पौधरोपण और संरक्षण की गतिविधियां आवश्यक हैं।

विभिन्न शोधों से स्पष्ट हुआ है कि किस तरह पर्यावरण कानूनों ने धीरे–धीरे बड़ी आबादी के पारंपरिक आजीविका साधनों को कम किया है। उत्तराखंड के पर्वतीय घरों में लकड़ी की आकर्षक नक्काशी करने वाले कारीगर वर्षों पहले ही यह पारंपरिक काम छोड़ चुके हैं, भेड़–बकरी पालने वाली घुमंतू प्रजातियों के समाप्ति के कगार पर पहुंचने के चलते प्रदेश में अब ऊन लुधियाना से आ रही है। बुनकर मशीन से तैयार होने वाले कपड़ों से स्पर्धा कर पाने की स्थिति में नहीं हैं और कृषि इतनी उपजाऊ नहीं रह गयी है कि आजीविका का बेहतर जरिया बन सके। नये रोजगार और अवसर कुछ शहरी क्षेत्रों में ही उपलब्ध हैं, जो प्रशासनिक केन्द्र हैं। इस तरह के रोजगार के लिये अकसर कौशल, ज्ञान और पूंजी की आवश्यकता होती है, जो स्थानीय लोगों के लिये जुटा पाना मुश्किल होता है।उत्तराखंड प्राथमिक रूप से कृषिप्रधान राज्य ही है, हालांकि देश के कुल भूभाग और कृषि उत्पादन में इसकी बेहद कम हिस्सेदारी है। राज्य के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा 22.4 प्रतिशत है, जबकि कृषि आजीविका पर प्रदेश की 75 से 85 प्रतिशत आबादी निर्भर है। पर्वतीय क्षेत्रों का प्राथमिक विकास कृषि एवं कृषि आधारित गतिविधियों से जुड़ा हुआ है। चूंकि पर्वतीय क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण हो पाना मुश्किल है और अवस्थापना ढांचे के विकास में सामने आने वाली बाधाओं के चलते यहां रोजगार के अवसर भी सीमित हैं, ऐसे में यहां कृषि सेक्टर ही प्राथमिक लक्ष्य बन जाता है। उत्तराखंड की तीन चौथाई से अधिक आबादी आजीविका के लिये कृषि पर ही निर्भर है। लेकिन खेती के लिये जमीन की कम उपलब्धता, छोटे आकार, जमीनों की अवस्थिति में बिखराव, दुर्गम परिस्थितियां, प्रतिकूल मौसम परिस्थितियां, तकनीक–प्रशिक्षण का अभाव, बैंकिंग और विपणन सुविधाओं की कमी से कृषिकार्य बेहद दुष्कर हो गया है। उत्तराखंड में भूस्वामित्व का औसत राष्ट्रीय औसत से काफी कम है, क्योंकि प्रदेश में 70 प्रतिशत तक भूस्वामित्व सीमित है, जबकि 18 प्रतिशत भूस्वामित्व का आकार बेहद छोटा है। हालांकि, प्रदेश के पर्वतीय जिलों में क्षमताओं की कमी नहीं है। प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता प्रदेश के पर्वतीय जिलों को आकर्षक बनाने के साथ निवेश को बढ़ाने की भी क्षमता रखते हैं।

Figure 4.

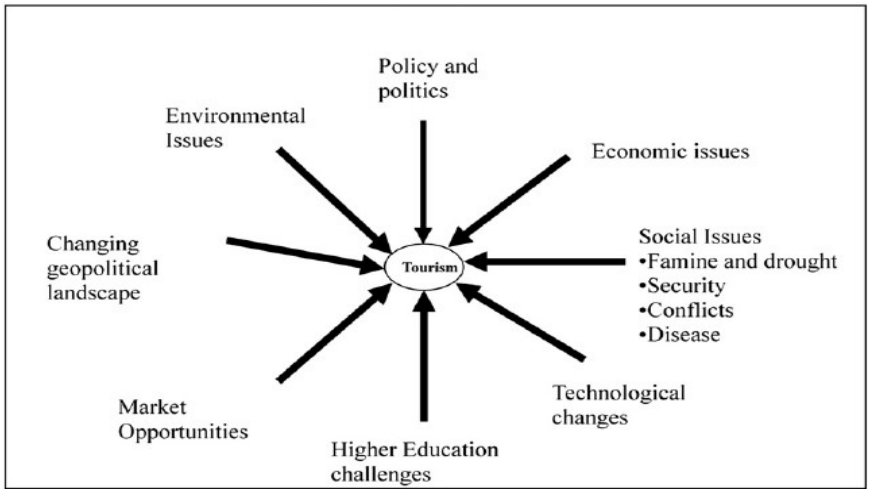

पर्वतीय क्षेत्रों का विकास चुनौतीपूर्ण कार्य है, क्योंकि ये क्षेत्र बेहद नाजुक पारिस्थितिकी वाले इलाके में अवस्थित होते हैं। यद्यपि पर्वतीय क्षेत्रों में बेहतरीन प्राकृतिक नजारे होते हैं, जो दृश्य संसाधन हैं, लेकिन यहां विकास प्रक्रिया पर्यावरणीय पहलू से प्रभावित होती है। यही नहीं, विकास का मुद्दा तब और जटिल बन जाता है, जब पर्वतीय क्षेत्रों में शहरी समुदायों की तादाद लगातार बढ़ने लगती है। ऐसी स्थिति विशेषकर उन पर्वतीय क्षेत्रों में मुश्किलें बढ़ाती है, जो अपने राज्य की राजधानी हों। आबादी में निरंतर वृद्धि से यहां संसाधनों के अनुचित दोहन, वनों के कटान के अलावा भूउपयोग में परिवर्तन, वनस्पति संसाधनों में बदलाव होता है। इन सबका असर भूस्खलन, भूकटाव, बाढ़ के तौर पर सामने आता है जो नैसर्गिक सुंदरता को नुकसान पहुंचाने के साथ कई पर्यावरणीय परेशानियां भी पैदा करती हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में विकास प्रक्रिया के दौरान प्राकृतिक संसाधनों को संरक्षित किया जाना बेहद जरूरी है। पर्वतीय क्षेत्रों के मूल निवासियों को जीवनस्तर में सुधार के बेहतर अवसर उपलब्ध कराने के साथ, वहां की परंपराओं और मूल्यों को संरक्षित रखना भी जरूरी है। दूसरे शब्दों में कहें तो इसे सतत बनाये रखना जरूरी है।

5.2: सतत विकास (Sustainable Development)

सतत विकास की अवधारणा का अर्थ पर्यावरणीय सततता, आर्थिक सततता और सामाजिक सततता से है। पारिस्थितिकी तौर पर संवेदनशील पर्वतीय क्षेत्रों में सतत विकास के लक्ष्य को हासिल करने के लिये नियोजन प्रक्रिया में निम्न उद्देश्यों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है:

- वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लाभ को ध्यान में रखते हुये प्राकृतिक संसाधनों तथा नैसर्गिक दृश्य क्षमताओं का संरक्षण किया जाना आवश्यक है
- स्थानीय लोगों को सामाजिक, सांस्थानिक और आर्थिक विकास की सतत प्रक्रिया से जोड़ना
- पर्यटन गतिविधियों का इस तरह विकास करना कि पर्यावरण पर इसका न्यूनतम प्रभाव हो

कृषि व्यवस्था के सतत विकास का मूल लक्ष्य इस सेक्टर में सततता का इस तरह विकास करना है कि यह कृषि पर ही निर्भर आबादी के लिये आजीविका का बेहतर विकल्प बन सके। बेहतर आय के लिये वैकल्पिक कृषि को बढ़ावा दिया जा सकता है। पर्यावरणीय पहलू, ग्रामीण विपणन और बाजार व्यवस्था तथा इनसे जुड़ी समस्याओं की पहचान और इनका निस्तारण करना भी आवश्यक है। सतत विकास की अवधारणा को विभिन्न स्तरों पर लागू किया जाना चाहिये, जिनमें क्षेत्रीय, उपक्षेत्रीय एवं स्थानीय स्तर शामिल हैं। इसे समझने के लिये हमें Regional Divisions of India, Census of India 1971 को ध्यान में रखना होगा, जिसमें देश को तीन प्रमुख क्षेत्रों– Macro, Meso और Micro में बांटकर देखा गया है।

पर्वतीय क्षेत्रों में नियोजन एवं विकास के माध्यम

पर्वतीय क्षेत्रों के विकास और नियोजन के लिये कुछ तरीके अपनाये गये हैं, जिनका संचालन विभिन्न स्तरों पर किया जाता है। उदाहरण के लिये:

- जलागम प्रबंधन: क्षेत्रीय स्तर
- भू उपयोगिता विश्लेषण: क्षेत्रीय एवं व्यवस्थागत स्तर
- वहन क्षमता विश्लेषण: व्यवस्थागत स्तर
- मौसम अनुकूल भवन प्रारूप: व्यवस्थागत एवं भवन निर्माण स्तर

5.2.1: जलागम प्रबंधन एवं विकास (Watershed Management/ Development)

भारत में जलागम प्रबंधन पर लंबे समय से काम किया जा रहा है। यह कृषि मंत्रालय द्वारा संचालित उपक्रम है। IWDP (Integrated Watershed Development Programme) की शुरुआत मृदा, जल एवं वनस्पतियों के संरक्षण के लक्ष्य के साथ हुयी थी। समय के साथ पेयजल, पशुपालन, मानव संसाधन, लैंगिक समानता आदि मुद्दे भी इसमें जुड़ते गये। शिवालिक (सूखो माजरी), अरावली (अलवर), पश्चिमी घाट (रालेगांव सिद्धि) में चले जन अभियानों ने वनों के कटान, जल संचय, ईंधन और चारा जरूरतों तथा जलागम प्रबंधन जैसे मसलों की ओर ध्यान खींचा। The All India Soil and Landuse Survey (AISLUS) ने भारत में जलागमों की विभिन्न स्तरों पर मौजूदगी का प्रारूप तैयार किया है। इनमें जल संसाधन क्षेत्र, जल संचय क्षेत्र, जलागम, सहयोगी जलागम आदि क्षेत्र शामिल हैं। Annexure I for Watershed Atlas को भी देखा जाना चाहिये, जिसमें इन घाटियों को अक्षरांकीय शब्दावली से प्रस्तुत किया गया है। उपग्रहीय आंकड़ों को इसमें 1:2,50,000 के पैमाने पर निर्धारित किया गया है, जिनमें भूउपयोग, भूमि आवरण, भूगर्भीय, जलविज्ञान आदि शामिल हैं।

5.2.2: भूमि उपयोगिता विश्लेषण (Land Suitability Analysis)

बीते तीन दशकों से यह शोध का विषय रहा है। हालांकि, इन्हें हाल में ही लागू किया जा सका है, जो Geographic Information System (GIS) से संभव हो सका है। इसकी एक वजह स्थानिक आंकड़ों की आवश्यकता और इनके आधार पर विश्लेषण रहा। पश्चिमी देशों में प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के लिये इस तकनीक का इस्तेमाल किया जाता रहा है। चूंकि इस दृष्टिकोण को क्षेत्रीय और व्यवस्थागत स्तर पर किया जाता है, विभिन्न स्तरों पर नक्शों के इस्तेमाल की जरूरत पड़ती है।

5.2.3: वहन क्षमता विश्लेषण (Carrying Capacity Analysis)

1985 के बाद पर्वतीय क्षेत्रों की वहन क्षमता का विश्लेषण किया जाने लगा। दून घाटी के मामले को देखें तो यहां दून घाटी की नाजुक पारिस्थितिकी के संरक्षण को लेकर पहली जनहित याचिका दायर की गयी थी। इस याचिका में मसूरी में बढ़ती आबादी, पर्यटन दबाव और सतत जल उपलब्धता के सवाल उठाये गये। इस क्षेत्र में किये गये विभिन्न शोधों से यह स्पष्ट हुआ है कि यहां पर्यटन विकास को देखते हुये भवनोपयोगी जमीनों की उपलब्धता, अवस्थापना ढांचे की स्थिति को ध्यान में रखना जरूरी है। हालांकि, इस तकनीक में आंकड़ों के बेहतर अध्ययन की जरूरत भी होती है, क्योंकि इसमें व्यवस्थागत स्तर पर काम किया जाता है।

5.2.4: मौसम अनुकूल भवन प्रारूप (Climate Conscious Building Design)

पर्वतीय क्षेत्रों में सतत विकास की यह सबसे पुरानी तकनीक है। स्थानीय वास्तुकला में भवन निर्माण में मौसम की परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाता रहा है। लेकिन, पर्वतीय क्षेत्रों में आधुनिक भवनों के डिजाइन में परंपराओं का ध्यान नहीं रखा जा रहा है, अधिकतर भवन उसी तरह बनाये जाने लगे हैं जैसे मैदानी क्षेत्रों में बनाये जाते हैं। हालांकि, कुछ वास्तुविदों ने मौसम अनुकूल भवन निर्माण को ध्यान में रखना प्रारंभ किया है। पर्वतीय क्षेत्रों में ऊर्जा अनुकूल भवनों का निर्माण किया जा रहा है। इस तरह के निर्माण को बड़े पैमाने पर विस्तार देने की जरूरत है।

5.3: पर्वतीय क्षेत्रों की समस्याएं (Problems in Hilly Areas)

पर्वतीय क्षेत्रों में वनों का कटान और भूमि क्षरण महत्वपूर्ण पर्यावरणीय समस्याएं हैं। इन दोनों के कारण पहाड़ों पर जलस्रोतों के सूखने, अचानक बाढ़, फसलों के उत्पादन में कमी, चारा, ईंधन और अन्य वनोत्पादनों की कमी लगातार बढ़ रही है। पर्वतीय क्षेत्रों में आजीविका के जरूरी संसाधनों का अभाव बड़ी दिक्कत बनकर उभरा है, विशेषकर उन स्थानों में जहां आबादी भूमि उपलब्धता के मुकाबले कहीं अधिक बढ़ गयी है। यद्यपि पलायन भी पर्वतीय क्षेत्रों की समस्या है, लेकिन गांवों में महिलाएं, बच्चे और अक्षम बुजुर्ग ही रह गये हैं, जो भूमि के बेहतर उपयोग के लिये अधिक उचित कदम उठा नहीं पाते। दूसरी ओर, दुर्गम परिस्थितियों में लंबे समय तक कठोर श्रम महिलाओं में स्वास्थ्य समस्याओं की वजह बन रहा है। खेतों के बेहद छोटे आकार, कृषि कार्य से होने वाली नगण्य आय के चलते पर्वतीय समुदाय देश के अन्य समुदायों से काफी पिछड़ा हुआ है। विभिन्न शोधकार्य स्पष्ट करते हैं कि उत्तराखंड की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसकी वजह यही है कि गांवों से पुरुषों के पलायन के कारण महिलाओं पर ही सभी कार्यों की जिम्मेदारी आ जाती है।

यहां यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि पहाड़ों से बड़े पैमाने पर पलायन भी उत्तर प्रदेश से अलग उत्तराखंड राज्य के गठन की अवधारणा की मुख्य वजह थी। लेकिन, यह दिक्कत बीते कुछ वर्षों में उत्तराखंड के लिये भी बड़ी चिंता का विषय बन गयी है। दरअसल, बीते कुछ सालों में प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों में स्थित गांवों से लोग बेहतर रोजगार, आय और बुनियादी सुविधाओं की तलाश में प्रदेश के शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन करने लगे हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार उत्तराखंड के कुल 16,793 गांवों में से 1,053 गांवों में अब एक भी व्यक्ति नहीं रह गया है, जबकि 405 गांव ऐसे हैं जहां दस से कम लोग रह रहे हैं। जब भी कोई गांव खाली छोड़ दिया जाता है, वह भूमि और अन्य ऐसे संसाधनों के नुकसान की वजह बन जाता है, जो सामुदायिक विकास के लिये अत्यावश्यक हैं। उत्तराखंड में बीते कुछ वर्षों में आर्थिक विकास तो हुआ है, लेकिन यह प्रदेश के तीन मैदानी जिलों में ही सर्वाधिक नजर आता है। बाकी दस पर्वतीय जिले इनसे काफी पीछे हैं। ऐसे में इन जिलों के लोग आजीविका के लिये मैदानी जिलों की ओर जाने लगे हैं।

दूसरी ओर, पर्वतीय क्षेत्रों में मानव–वन्यजीव संघर्ष भी लगातार बढ़ रहा है। जमीनों के उपयोग में परिवर्तन, वनों के कटान, प्राकृतिक संसाधनों में कमी के कारण पारिस्थितिकी नुकसान के फलस्वरूप यह संघर्ष चिंताजनक होता जा रहा है। वन्यजीवों के संरक्षण के लिये बनीं नीतियों के कारण बीते दो दशकों में प्रदेश में जंगली सुअरों, बंदरों–लंगूरों, साही, हाथियों और अन्य शिकारी वन्यजीवों की संख्या में खासी वृद्धि हुयी है। लेकिन, पर्यावरण और पारिस्थितिकी संरक्षण में कमी से उनके भोजन और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के पर्याप्त संसाधन उपलब्ध नहीं हैं। यह परिस्थिति ही Human-Wildlife-Conflict (HWC) की वजह बनती है। यह माना जाता है कि मनुष्यों ने प्रदूषण, नुकसानदायक पदार्थों के इस्तेमाल, अंधाधुंध दोहन के कारण वन्यजीवों और पर्यावरण के लिये संकट की स्थिति पैदा की है। ऐसे में वन्यजीव भोजन की तलाश में गांवों में घुस आते हैं और फसलों को नुकसान पहुंचाते हैं। शिकारी जीव ग्रामीणों के पालतू पशुओं को मार डालते हैं और कई बार मानवों पर भी हमले करते हैं। इसे दूसरे अर्थों में यह भी कह सकते हैं कि मानवों और वन्यजीवों के बीच यह संघर्ष बेहद सीमित संसाधनों के उपभोग के लिये बढ़ रहा है।

भारतीय हिमालयी क्षेत्र के पर्वतीय जिलों से लिया गया आंकड़ा बताता है कि इस संघर्ष के कारण लोग फसलों, पशुधन, संपत्ति और कई बार जान तक का नुकसान झेलते हैं। इसके एवज में नुकसान पहुंचाने वाली वन्यजीव प्रजातियों को नुकसान पहुंचाया जाता है और कई बार मार डाला जाता है। ऐसी स्थिति में मानव–वन्यजीव संघर्ष को बढ़ाने वाली परिस्थितियों को समझने की जरूरत है। मौसम अनुकूलता, भू उपयोग, कृषिकार्यों में बदलाव और वन्यजीव प्रबंधन की आवश्यकता है। मौसम परिवर्तन के कारण ठंड की तीव्रता में दर्ज की जा रही कमी ने बीते कुछ दशकों में कुछ वन्यजीव प्रजातियों के लिये अनुकूलन का

काम किया है। इसके अलावा सरकार के स्तर पर भी कई वन्यजीव प्रजातियों के संरक्षण का काम किया जा रहा है। सतत विकास की प्रक्रिया में प्राकृतिक पर्यावरण के महत्व को समझा जाने लगा है। हालांकि, यह प्रयास मानव–वन्यजीव संघर्ष में बढ़ोतरी का परिणाम भी हो सकते हैं। दोनों के बीच संतुलन का प्रबंधन आवश्यक है, ताकि सामाजिक–आर्थिक विकास की सुनिश्चितता के साथ प्राकृतिक पर्यावरण को भी बनाये रखा जा सके।

कई पर्वतीय क्षेत्रों में मनुष्यों, पशुओं के बढ़ते दबाव, व्यावसायिक उपयोग के लिये वनों के कटान ने भूमि को खासा नुकसान पहुंचाया है। इसके अलावा वन क्षेत्र में भी खासी कमी दर्ज की गयी है। यही नहीं, भूमि की जल संचय क्षमता और उत्पादन पर भी नकारात्मक असर पड़ा है। इन सब वजहों से पर्वतीय क्षेत्रों की पारिस्थितिकी पर गहरा असर पड़ा है और पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की आर्थिकी पर भी इसका प्रभाव दिखता है। पारंपरिक खेती ने भी वनों को नुकसान पहुंचाया है। इसी तरह पशुओं के चारे की तलाश, विशेषकर भेड़–बकरियों के भोजन की तलाश ने कई पर्वतीय क्षेत्रों में पारिस्थितिकी नुकसान किया है। भवन निर्माण, सड़क–बांध निर्माण, खनन, बड़ी और मध्यम औद्योगिक इकाइयों की स्थापना ने भी पर्यावरणीय समस्याएं बढ़ायी हैं। इन सबके चलते कई पर्वतीय क्षेत्रों में प्राकृतिक जलस्रोत और धाराएं सूख चुकी हैं। इस सबके चलते स्थान विशेष के हिसाब से समस्याओं के निस्तारण के तरीकों की तलाश करना प्रमुख चुनौती बन गया है, ताकि नुकसान को कम कर बढ़ती आबादी के लिहाज से सतत विकास को सुनिश्चित किया जा सके।

Figure 6.

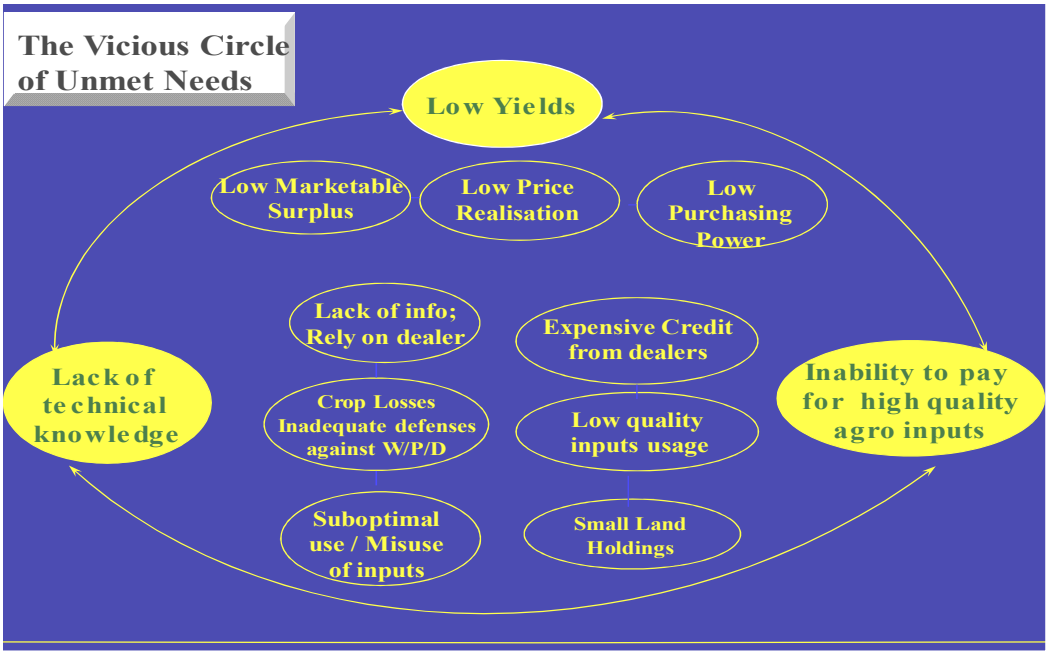

5.4: अनुशंसा (Recommendations)

- भारतीय हिमालयी क्षेत्र के राज्यों को कृषि–औद्यानिकी–वानिकी कौशल और तकनीकी विकास पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है
- इससे प्रति हेक्टेअर, प्रति व्यक्ति उत्पादन में बढ़ोतरी होगी, जो सेवा–सुविधाओं को प्रदान करने की क्षमता में भी वृद्धि करेगा
- उत्पादकों और कौशलयुक्त लोगों की बाजार तक पहुंच बढ़ाना आवश्यक है, ताकि वे अपने उत्पाद का बेहतर लाभ ले सकें, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये सरकार को संचार, विपणन व्यवस्था, सूचना प्रौद्योगिकी सेवाओं से जुड़े अवस्थापना विकास पर ध्यान देना होगा
- खेतों में दोबारा खेती को बढ़ावा देने के लिये विशेष प्रोत्साहन योजनाओं की आवश्यकता है, जिसके साथ उचित शिक्षा और प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिये

इनके अलावा अन्य सुझावों से भी बेहतर परिणाम हासिल किये जा सकते हैं

- **पर्वतीय संवेदनशीलता (Mountain Sensitization):** पर्वतों को वर्तमान और भविष्य के संसाधनों और अवसरों की राष्ट्रीय संपदा के तौर पर देखा जाना चाहिये। वस्तुतः भारत के उत्तरी और पूर्वी मैदानों में भारी आबादी के चलते भारतीय हिमालयी क्षेत्रों में नियोजन मुश्किल होता है। ऐसे में यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय नीतियों में पर्वतीय दृष्टिकोण का समावेश आवश्यक है, ताकि देश के बाकी हिस्सों के विकास के लिये लिये जाने वाले फैसले पर्वतीय क्षेत्रों के पर्यावरण, वहां की आबादी और संसाधनों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालें। नियोजनकर्ताओं और नीति निर्माताओं को विशेष तौर पर भारतीय हिमालयी क्षेत्र की नाजुक स्थिति, भंगुरता के प्रति संवेदनशील होना आवश्यक है।
- **शिक्षा एवं कौशल विकास (Education and Skill Development):** नियोजकों, प्रशासकों, अभियंताओं, सामाजिक विज्ञानियों के लिये पर्वतीय आवश्यकताओं पर आधारित पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिये जो पर्वतीय पारिस्थितिकी, भूगर्भीय स्थिति और स्थानीय आबादी की सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों पर केन्द्रित हो।
- **Natural Resource Analysis and Advisory Centre (NRAAC):** विशेष टास्क फोर्स का सुझाव है कि राष्ट्रीय संसाधन विश्लेषण और सुझाव केन्द्र के तौर पर नये संस्थान की स्थापना की जाये। इस संस्थान में भारतीय हिमालयी क्षेत्र पर आधारित समग्र आंकड़े उपलब्ध होने के साथ यह क्षमता भी हो कि वह इन आंकड़ों का विश्लेषण कर नीति निर्माताओं को आवश्यक सुझाव देकर बता सके कि कौन सी गतिविधियां संसाधनों एवं पर्यावरण पर असर डाल सकती हैं। इसके साथ ही वह यह जानकारियां भी दे कि किसी नीति को लागू करने से पूर्व भारतीय हिमालयी क्षेत्र में किन अनिवार्य कदमों को उठाना आवश्यक है।
- **पर्यावरणीय मूल्यांकन (Environmental Assessment):** मौजूदा परियोजना आधारित पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन (Environmental impact assessment: EIA) के बजाय रणनीतिक पर्यावरणीय मूल्यांकन (Strategic Environmental Assessment:SEA) को लागू किये जाने की जरूरत है।
- **आर्थिक प्रोत्साहन, पुरस्कार एवं छूट (Financial Incentives, Rewasrds and Relaxations):** केन्द्र प्रायोजित योजनाओं को मानवीय आबादी के बजाय (climate & season67, distance, topography, accessibility) भौगोलिक मानकों के आधार पर लागू किया जाना चाहिये। हाल में इस लिहाज से कई कदम उठाये गये हैं, जिनमें पर्वतीय क्षेत्रों में

विभिन्न योजनाओं में नियमों में कुछ छूट दी गयी हैं, उदाहरण के लिये प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, सर्वशिक्षा अभियान, नेशनल रूरल ड्रिंकिंग वाटर प्रोग्राम (Annexure IV)। जैविक और पारंपरिक उत्पादों के परिवहन के लिये विभिन्न मूल्य नीतियां लागू की जानी चाहिये, जो भारतीय हिमालयी क्षेत्र के ब्रांड को प्रोत्साहित कर सकें। बैंकिंग नियमों में छूट उन क्षेत्रों में भी लोगों को ऋण लेने में सहूलियत देंगी, जहां भूमि अधिकार अब तक तय नहीं किये जा सके हैं या जहां पारंपरिक भूमि स्वामित्व की व्यवस्था चल रही है। ऐसी परिस्थितियों में, विशेषकर उत्तरपूर्वी राज्यों में, सामाजिक पूंजी को ही भूमि स्वामित्व का प्रतिनिधि माना जाना चाहिये।

- **संसाधनों का साझाकरण (Resource Sharing between IHR States)**: भारतीय हिमालयी क्षेत्र के राज्यों के बीच संसाधनों के साझाकरण का आंतरिक तंत्र विकसित करने की जरूरत है। इस तरह की नीतियां बेहतर सामंजस्य की स्थापना में सहायक होंगी।
- **जलमार्ग एवं रज्जूमार्ग (Waterways and Ropeways)**: भारत के तीन घोषित जलमार्गों में से एक ब्रह्मपुत्र नदी पर 891 किलोमीटर लंबा सादिया–धुब्री जलमार्ग भारतीय हिमालयी क्षेत्र में अवस्थित है। परिवहन की बेहतर सुविधा के लिये जलमार्ग के साथ सड़क का भी निर्माण किया जाना चाहिये। इसके अलावा रज्जूमार्ग, पुल और पर्यावरण अनुकूल परिवहन साधनों के विकास की भी जरूरत है। हिमाचल प्रदेश में इस लिहाज से किये गये कार्य अन्य भारतीय हिमालयी क्षेत्र के अन्य राज्यों के लिये अनुकरणीय हो सकते हैं।
- **कचरा प्रबंधन (Waste Management)**: भारतीय हिमालयी क्षेत्र में कचरा प्रबंधन बड़ी चुनौती है। सही तरीके से निस्तारण नहीं किया गया तो यह नदी तंत्र, घाटियों में प्रदूषण का बड़ा कारण बन सकता है। कचरे को जलाना सबसे आसान उपाय है, लेकिन यह वायु प्रदूषण और स्थानीय स्तर पर मौसम के गर्म होने की वजह हो सकता है। टास्क फोर्स ने भारतीय हिमालयी राज्यों में कचरा प्रबंधन के मुद्दे पर तत्काल ठोस और प्रभावी कदम उठाने की जरूरत जतायी है। इसके लिये राष्ट्रीय स्तर पर संचालित कार्यक्रमों, योजनाओं का लाभ लेने के साथ स्थानीय निकायों को शक्तिसंपन्न बनाने की जरूरत है। निकाय स्तर पर ठोस और द्रव कचरे के प्रबंधन, सामुदायिक जागरूकता अभियानों के संचालन और सामुदायिक स्तर पर भी स्वानुशासन को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। मिजोरम जैसे छोटे राज्य ने अपने यहां युवाओं को गारबेज बिन उपलब्ध कराये हैं जो सड़कों के किनारे स्थित बाजारों में रहते हैं और जिनमें जमा होने वाला कचरा हर रोज उठाया जाता है। लेकिन, कचरे के साथ क्या किया जाये, इस जानकारी के अभाव में वे पहाड़ी ढलानों पर कचरा फेंकने के बाद उसे जला देते हैं।
- **त्वरित आपदा राहत एवं शमन (Disaster Preparedness and Mitigation)**: यह सबसे अनिवार्य है, क्योंकि मानवीय हस्तक्षेप के बढ़ने से प्राकृतिक नाले–नालियों की व्यवस्था पर असर, फॉल्ट जोन में वृद्धि, मृदाक्षरण, भूस्खलन जैसी समस्याएं उभरी हैं। अस्थायी जोन की पहचान किया जाना आवश्यक है और इन्हें किसी भी तरह की मानवीय गतिविधियों से बचाये रखना जरूरी है। संवेदनशील जोन में निर्माण के नियम लागू करना, नियम तोड़ने पर कड़ी कार्रवाई–जुर्माना तय करना, सभी घरों और व्यावसायिक और कार्यालयी भवनों में वर्षाजल के संचय को अनिवार्य करना चाहिये। सीवेज, ठोस अपशिष्ट प्रबंधन और पेयजल वितरण सप्लाई मास्टर प्लान का बुनियादी हिस्सा होना चाहिये। तीर्थयात्राओं और त्योहारों के दौरान कठोर नियम बनाये जाने चाहिये, पर्यावास की वहन क्षमता की बेहतर जानकारी होना जरूरी है, भूकंप और अग्नि प्रतिरोधी भवनों का निर्माण किया जाना चाहिये, आपात स्थितियों के लिये पर्याप्त खाली स्थान उपलब्ध होना चाहिये। मौसम के पूर्वानुमान के लिये बेहतर चेतावनी तंत्र, त्वरित राहत तंत्र आवश्यक हैं। भारतीय हिमालयी क्षेत्रों में आपदा प्रबंधन सेवाएं प्रदान करने वाले संस्थानों से सलाह और मदद लेने में आर्थिक तौर पर कंजूसी नहीं बरती जानी चाहिये।

- **उद्योग (Industries):** उद्योगों की स्थापना में नियमों के जरिये नियमित निगरानी की आवश्यकता है, ताकि क्षेत्र के नाजुक पर्यावरण का संरक्षण सुनिश्चित रहे। बेहद सीमित दायरे में ही उद्योगों की स्थापना की अनुमति दी जा सकती है, क्योंकि दुर्गम परिस्थितियों के चलते अधिकतर भूभाग इसके लिये उपयोगी नहीं होता। हालांकि, लघु और कुटीर उद्योगों और पर्यटन विकास की क्षमताएं जरूर मौजूद रहती हैं। इनके जरिये स्थानीय कच्चे माल की बेहतर कीमत मिल सकेगी और यह रोजगार का जरिया भी बन सकेंगे।
- **मौसम परिवर्तन (Climate Change):** भारतीय हिमालयी क्षेत्र को धरती के मौसम में गर्मी बढ़ने के रास्ते में बाधा की तरह उभरना चाहिये। इसके लिये पर्यावरण को होने वाले नुकसान के लिहाज से शोधकार्यों को बढ़ावा देने और इन शोधकार्यों के परिणामों के माध्यम से नीति निर्माण करने की आवश्यकता है।
- **नेशनल मिशन फॉर सस्टेनिंग हिमालयन इकोसिस्टम (NMSHE):** राष्ट्रीय एक्शन प्लान के तहत मौसम परिवर्तन के अध्ययन के लिये शुरू किये गये इस कार्यक्रम में हिमालयी क्षेत्र को उच्च वरीयता दी गयी है। इसके जरिये सरकार को यह सुझाव दिया गया है कि हिमालयी क्षेत्र में पारिस्थितिकी संवेदनशीलता को ध्यान में रखा जाये और नीति निर्माण प्रक्रिया में हिमालयी क्षेत्र को विशेष स्थान मिले। चूंकि देश से बाहर के भी कई कारक हिमालयी क्षेत्र को प्रभावित करते हैं ऐसे में दक्षिण एशियाई देशों के साथ बेहतर सामंजस्य और समन्वय बनाने के लिये अच्छी नीति की आवश्यकता है, ताकि इन देशों के साथ मिलकर हिमालयी पारिस्थितिकी पर फोकस किया जा सके।

5.5: सन्दर्भ (References)

- Dewan, M.L. and Bahadur, J. (Eds.) (2005). Uttaranchal: Vision and Action Programme. Concept Publishing Company, New Delhi.
- http://cat.inist.fr/?aModele=afficheN&cpsidt=18068406
- http://cat.inist.fr/?aModele=exportN&cpsidt=18068406
- http://gbpihed.gov.in/PDF/Popular_Lecture/10-Lecture.pdf
- http://gbpihedenvis.nic.in/him_states.htm
- http://ihcap.in/media/Annex/Synthesis%20Report-Kullu/COMMUNITY%20PERCEPTIONS.pdf
- http://repository.ias.ac.in/72901/
- http://spaenvis.nic.in/index1.aspx?lid=1205&mid=1&langid=1&linkid=408
- http://www.iisc.ernet.in/currsci/mar252006/784.pdf
- http://www.indiawaterportal.org/articles/problems-hill-states-and-hill-areas-and-ways-ensure-they-do-not-suffer-any-way-because
- http://www.secheresse.info/spip.php?article6451
- https://www.researchgate.net/profile/Hedi_Indra_Januar/publication/281974846_Will_the_Increasing_of_Anthropogenic_Pressures_Reduce_the_Biopotential_Value_of_Sponges/links/5601039f08aeba1d9f84e9de.pdf?inViewer=true&pdfJsDownload=true&disableCoverPage=true&origin=publication_detail
- https://www.researchgate.net/publication/228805236_Sustainable_development_of_the_Indian_Himalayan_region_Linking_ecological_and_economic_concerns

- https://www.researchgate.net/publication/242547769_Analytical_Framework_for_Equitable_Mountain_Tourism_An_Analytical_Discourse_on_Political_Ecology_of_Mountain_Geography_in
- Malhotra, S.P. (2005). Opportunities, challenges and prospects in agriculture and forestry. In M.L. Dewan and Jagdish Bahadur (Eds.), Uttaranchal: Vision and Action Programme. Concept Publishing Company, New Delhi, pp. 54-66.
- Sekhar, C.S.C. (2007). Viable Entrepreneurial Trade for Women in Agriculture in Utttaranchal. Working Report. Agriculture Economics Research Centre, University of Delhi.
- Zobel, D.B., Singh, S.P. 1997. Himalayan forests and Ecological generalization**. Bio Sci.,** 47(11): 735-745.

इकाई 6

सतत विकास के मॉडल (Models of Sustainable Development)

6.0: उद्देश्य (Objectives)

6.1: परिचय (Introduction)

6.2: एसएल दृष्टिकोण (SL Approach)

13.2.1: यूएनडीपी, केयर और डीएफआईडी (UNDP, CARE and DFID)

6.3: सतत आजीविका (Sustainable Livelihood)

66.4: एसएल दृष्टिकोण की तुलना (SL Approaches Compared)

6.5: सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समस्याएं (Methodological and Practical Difficulties)

6.6: कार्यक्रम नियोजन की वास्तविकता एवं क्षेत्रीय पूर्वाग्रह (The Reality of Programme Planning and Sectoral Biases)

6.7: क्षमता आवश्यकताएं एवं दाता के प्रभाव का जोखिम (Capacity Requirements and Risk of Donor Dominance)

6.8: अभ्यास प्रश्न (Questions)

6.9: सन्दर्भ (References)

6.0: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम सतत आजीविका की अवधारणा को समझ सकेंगे। इसके साथ ही हम सतत विकास के विभिन्न मॉडलों के बारे में भी जानेंगे।

6.1: परिचय (Introduction)

सतत आजीविका (**Sustainable Livelihood: SL**) गरीबी उन्मूलन को पारंपरिक परिभाषाओं और दृष्टिकोण से कहीं आगे देखने का प्रयास है। पारंपरिक परिभाषाएं एवं दृष्टिकोण इसलिये सीमित होती हैं, क्योंकि वे निर्धनता के बेहद सीमित दायरे तक ही केन्द्रित होती हैं, जिनमें निम्न आय शामिल है। वे निर्धनता के अन्य पक्षों जैसे सामाजिक उपेक्षा और जोखिम पर ध्यान नहीं देते। हालांकि, अब यह माना जाने लगा है कि उन पक्षों और बाधाओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है जो निर्धन वर्ग को आर्थिक, पारिस्थितिक, सामाजिक सततता के लिहाज से पीछे रखते हैं। सतत आजीविका की अवधारणा इसी दिशा में एकीकृत और संयुक्त दृष्टिकोण है। सतत आजीविका का विचार सबसे पहले वर्ष 1992 में संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में पर्यावरण और विकास के लिये बने ब्रटलैंड कमीशन ने दिया था। इसमें गरीबी उन्मूलन के लिये

सतत आजीविका के साधन विकसित कराने को महत्वपूर्ण लक्ष्य बताया गया। 1992 में रॉबर्ट चैंबर्स और गॉर्डन कॉन्वे ने सतत ग्रामीण आजीविका के लिये निम्न परिभाषा दीः

'आजीविका का तात्पर्य क्षमता, संपत्तियों, संसाधनों, पहुंच, भंडारण आदि उन विभिन्न गतिविधियों से है, जो जीवन जीने के लिये आवश्यक हैं। सतत आजीविका मौजूदा पीढ़ी को तनावों, खतरों से निपटने के साथ भावी पीढ़ियों के लिये क्षमताओं और संपत्ति में वृद्धि के साथ बेहतर अवसर मुहैया कराने का माध्यम है। यह स्थानीय और वैश्विक स्तर पर अन्य आजीविका साधनों को भी अल्प और दीर्घकालिक लाभ देती है।'

आजीविका के विभिन्न घटकों में संपत्ति सबसे जटिल है, जिसके जरिये लोग अपने जीवन की स्थापना करते हैं। इसमें वास्तविक संपत्तियां और संसाधनों के साथ दावे और पहुंच जैसे अमूर्त साधन शामिल हैं। लेखक बताते हैं कि सतत आजीविका की किसी भी परिभाषा में तनावों और झटकों का सामना करने, उन्हें निस्तारित करने और इनसे बचने की क्षमता को शामिल करना जरूरी है। हाल में Institute for Development Studies (IDS) और British Department for International Development (DFID) ने सतत आजीविका के दृष्टिकोण और अवधारणा पर प्रयोग किये हैं। इस सिद्धांत के अग्रणी समर्थक IDS से जुड़े इयान स्कून्स ने सतत आजीविका की नयी परिष्कृत परिभाषा दी हैः

'सतत आजीविका का अर्थ भौतिक एवं सामाजिक संपत्तियों–संसाधनों और गतिविधियों से है, जो जीवन के लिये आवश्यक हैं। कोई भी आजीविका तब सतत कहलाती है, जब वह तनावों और चुनौतियों का सामना कर सके, क्षमताओं और संपत्तियों में वृद्धि कर सके और इस पूरी प्रकिया में प्राकृतिक संसाधनों के आधार को किसी भी तरह से नुकसान नहीं पहुंचाये।'

DFID ने इस परिभाषा को आगे बढ़ाते हुए कहा है, 'सतत आजीविका अन्य आजीविकाओं के लिये भी शुद्ध लाभ का माध्यम है।' IDS टीम ने सतत ग्रामीण आजीविका के विश्लेषण के लिये प्रायोगिक ढांचे को रेखांकित किया है। इसके तहत तीन कारकों, आजीविका संसाधन, आजीविका रणनीति तथा सांस्थानिक प्रक्रियाओं व सांगठनिक ढांचे को शामिल किया गया है। आजीविकाओं के निर्माण की जटिल संरचना को समझने के लिये स्कून्स तर्क देते हैं कि इसे विभिन्न दृष्टिकोणों से समझ पाना मुश्किल है। इनके अध्ययन के लिये सांस्थानिक प्रक्रियाओं और संगठनात्मक ढांचे के सभी कारकों को एक–दूसरे से संयुक्त करके देखना आवश्यक है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह जरूरी है कि सतत आजीविका विश्लेषण में स्थानीय लोगों के ज्ञान, विचारों, अभिरुचियों को शामिल किया जाये।

6.2: सतत आजीविका दृष्टिकोण (The SL Approach)

इस नये दृष्टिकोण से निर्धनता को तीन पहलुओं से देखा जा सकता है। पहला यह है कि गरीबी उन्मूलन के लिये आर्थिक विकास आवश्यक जरूर है, लेकिन इन दोनों के बीच कोई सीधा संबंध नहीं है। यह सिर्फ इस बात पर निर्भर करता है कि निर्धन लोग बढ़ते आर्थिक अवसरों से जुड़कर खुद को लाभान्वित करने की क्षमता रखते हैं या नहीं। दूसरा पहलू यह है कि निर्धनता (जैसा कि निर्धन स्वयं मानते हैं) का अर्थ सिर्फ कम आय से नहीं है, बल्कि इसमें स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक सुविधाओं का अभाव और उपेक्षा, शक्तिहीनता जैसे भाव भी शामिल होते हैं। तीसरा और अंतिम पक्ष यह है कि निर्धन वर्ग अपनी स्थिति–परिस्थिति को सबसे बेहतर ढंग से समझता है और यह जानता है कि उसे किन बदलावों की जरूरत है, लिहाजा नियोजन में उन्हें शामिल किया जाना आवश्यक है।

Figure 1.

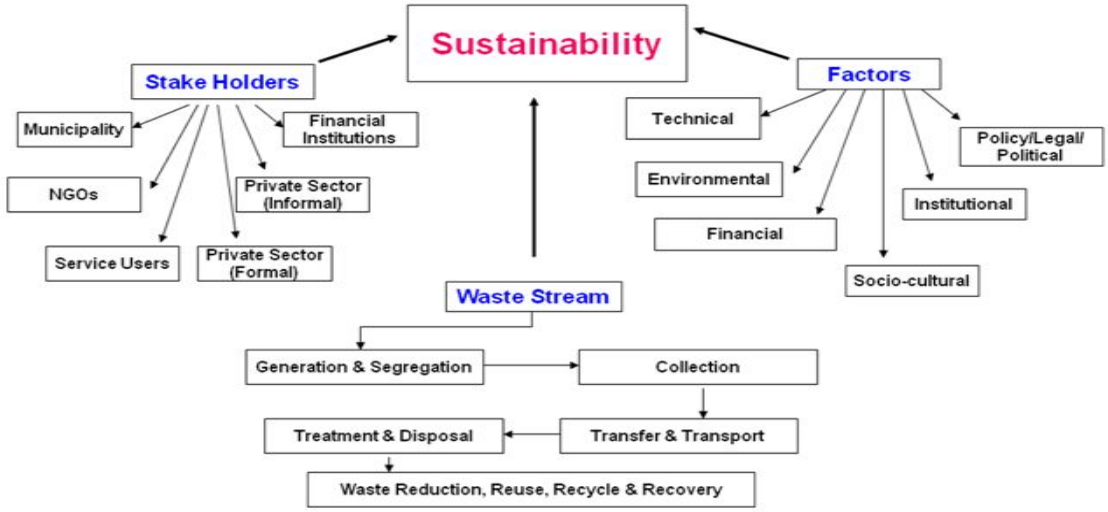

सतत आजीविका दृष्टिकोण को लागू करने का कोई एकीकृत तरीका नहीं है। इसे कार्यक्रमों के नियोजन, मूल्यांकन में सिर्फ एक साधन अथवा माध्यम के तौर पर प्रयोग किया जा सकता है, या फिर इसे ही कार्यक्रम के तौर पर लागू किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के तीन बुनियादी गुण हैं। पहला, इसका केन्द्रबिन्दु निर्धन वर्ग की आजीविका है। दूसरा, यह कृषि, जल, स्वास्थ्य आदि विशेष सेक्टरों में मूल्यांकन के लिये पारंपरिक दृष्टिकोणों के मानक प्रक्रिया को खारिज करता है। तीसरा, यह दृष्टिकोण विभिन्न गतिविधियों में लोगों की सहभागिता पर भरपूर जोर देता है। यह गतिविधियों की पहचान और उनके हिसाब से सहभागिता की आवश्यकता को चिह्नित करता है। हालांकि, कई मायनों में सतत आजीविका का दृष्टिकोण पुराने एकीकृत ग्राम्य विकास दृष्टिकोण (Integrated Rural Development Approach) से मिलता–जुलता है। लेकिन बुनियादी और महत्वपूर्ण अंतर यह है कि सतत आजीविका दृष्टिकोण में निर्धन वर्ग की आजीविका से जुड़े सभी पहलुओं पर एकसाथ विचार नहीं किया जाता। इसके बजाय इस दृष्टिकोण में समग्र दृष्टि के साथ उन क्षेत्रों की पहचान करना है, जिनके मूल्यांकन और विश्लेषण से गरीबी उन्मूलन की दिशा में स्थानीय अथवा नीति के स्तर पर प्रभावी कदम उठाया जाना संभव हो।

6.2.1: यूएनडीपी, केयर और डीएफआईडी (UNDP, CARE and DFID)

सतत आजीविका दृष्टिकोण के अध्ययन में इन तीन संस्थाओं की कार्यशैली को समझना महत्वपूर्ण है। ये तीनों एक ही सिद्धांत को अलग–अलग तरीके से इस्तेमाल करती हैं।

- **यूएनडीपी (UNDP):** संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) के लिये सतत आजीविका दृष्टिकोण कार्यक्रम ढांचे के साधन की तरह है, जो निर्धन और उपेक्षित समूहों में लचीलेपन को बढ़ाने के साथ उनमें नये पहलुओं को आत्मसात कर पाने की क्षमता बढ़ाने के जरिये आजीविका की सततता को सुनिश्चित करने का माध्यम है। इसमें परिष्कृत तकनीकों और सामाजिक–आर्थिक निवेश को बढ़ावा देने पर जोर दिया जाता है। सतत आजीविका कार्यक्रमों के रूप में विभिन्न

सहयोगी गतिविधियों का संचालन भी किया जाता है, जिन्हें आमतौर पर जिला स्तर पर लागू किया जाता है और समुदाय व परिवार के स्तर पर इन्हें उपशाखाओं में बांटा जाता है।

- **केयर (CARE)**: कोऑपरेटिव फॉर असिस्टेंस एंड रिलीफ एवरीव्हेयर (CARE) एक अंतर्राष्ट्रीय गैरसरकारी स्वयंसेवी संस्था है, जो विभिन्न विकास कार्यक्रमों अथवा राहत कार्यों के जरिये निर्धनतम और उपेक्षित वर्गों के लिये काम करती है। 1994 से यह संस्था परिवार आजीविका सुरक्षा (Household livelihood security: HLS) का संचालन कर रही है, जिसके तहत विश्लेषण, प्रारूप, निगरानी और मूल्यांकन का काम किया जाता है। HLS की अवधारणा का विकास चेंबर्स और कॉन्वे (1992) की आजीविका की परिभाषा पर आधारित है, जिसके तीन बुनियादी प्रतीक हैं: मानवीय क्षमताओं का अधिकार (शिक्षा, कौशल, स्वास्थ्य, मनोवैज्ञानिक आधार), वास्तविक एवं अमूर्त संपत्तियों तक पहुंच और आर्थिक गतिविधियों का अस्तित्व। इन तीनों के बीच का संबंध और गतिविधियां ही परिवारों की आजीविका को तय करती हैं। केयर विशेष तौर पर निर्धन लोगों को इतना सक्षम बनाने पर जोर देता है कि वे अपनी आजीविका को सुरक्षित और सशक्त कर सकें। इस तरह यह सशक्तीकरण को अपने दृष्टिकोण का बुनियादी अग मानता है।

- **डीएफआईडी (DFID)**: यूनाइटेड किंगडम के डिपार्टमेंट फॉर इंटरनेशनल डेवलपमेंट (DFID) ने वर्ष 1997 में गरीबी उन्मूलन की दिशा में काम को अपना लक्ष्य बनाया। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिये तय किये गये तीन मूल बिन्दुओं में एक, 'वे नीतियां और गतिविधियां हैं, जो सतत आजीविका को बढ़ावा दें' (Carney et al., 1999). डीएफआईडी की परिभाषा आईडीएस द्वारा विकसित परिभाषा का अनुसरण करती है, जो वस्तुतः चेंबर्स और कॉन्वे की ही मूल परिभाषा का परिष्कृत स्वरूप है। डीएफआईडी के सतत आजीविका दृष्टिकोण का लक्ष्य साधन या अभिकरण (Agency) को गरीबी को दूर करने के लिये इस तरह सक्षम बनाना है कि वह दो तरीकों से काम कर सके। पहला, ऐसे बुनियादी सिद्धांतों को मुख्यधारा में प्रचलित करने का प्रयास, जो मानते हैं कि गरीबी केन्द्रित विकास गतिविधियों को जनकेन्द्रित (People centric), उत्तरदायी, बहुआयामी, सहभागी, सतत और गतिशील होना चाहिये। दूसरा, कार्यक्रमों के संचालन में सहयोगी गतिविधियों के समग्र दृष्टिकोण को लागू करना, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि वे संबंधित क्षेत्र के मुद्दों से सीधे जुड़कर निर्धन लोगों की आजीविका में सुधार का साधन बन सकें। डीएफआईडी की कार्यशैली का केन्द्रबिन्दु सतत आजीविका का ढांचा है, जिसमें आजीविका के अवसरों में बाधा बनने वाले विभिन्न कारकों की व्यवस्थित ढंग से पहचान की जा सकती है और विभिन्न घटकों के अंतर्संबंधों के जुड़ाव से लक्ष्य हासिल किया जा सके।

तुलनात्मक विश्लेषण (A Comparison)

उपरोक्त तीनों संस्थाएं निर्धनता को दूर करने के लक्ष्य को हासिल करने के लिये सतत आजीविका के सिद्धांत पर ही काम करती हैं। तीनों उन्हीं समान परिभाषाओं पर ही काम करती हैं, जो सतत आजीविका के सिद्धांत को स्पष्ट करती हैं। हालांकि, UNDP और CARE इसके जरिये ठोस परियोजनाओं और कार्यक्रमों का संचालन करती हैं, जबकि DFID के लिये सतत आजीविका का दृष्टिकोण कार्यक्रम संचालन के बजाय विश्लेषण का बुनियादी ढांचा है। CARE सामुदायिक स्तर पर परिवारों की आजीविका की

सुरक्षा को प्राथमिकता देता है, जबकि UNDP और DFID सामुदायिक स्तर पर काम तो करते हैं, लेकिन पर्यावरण, सूक्ष्म आर्थिक सुधारों और नियमन को भी गरीबी उन्मूलन के लिये प्रभावी मानते हैं।

सतत आजीविका दृष्टिकोण की ताकत एवं कमजोरियां (Strengths & Weaknesses of SL Approach)

- **ताकत (Strengths):** लोग आजीविका की स्थापना के दौरान जिन विविध संपत्तियों का उपयोग करता है, सतत आजीविका दृष्टिकोण में इन सब पर समग्र विचार किया है। इसके साथ ही यह दृष्टिकोण यह भी स्पष्ट करता है कि कौन–कौन से संसाधन और संसाधनों का समूह निर्धन लोगों के लिये भौतिक, प्राकृतिक, सामाजिक और मानवीय पूंजी के रूप में महत्वपूर्ण है। यह दृष्टिकोण विभिन्न स्तरों पर संसाधनों अथवा संपत्तियों तक लोगों की पहुंच में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बाधा बनने वाले विविध कारकों के विश्लेषण के जरिये निर्धनता के मूल कारणों की पड़ताल भी करता है। यह दृष्टिकोण लोगों के जीवनस्तर और परिस्थितियों को लेकर प्रत्यक्ष–परोक्ष मूल्यांकन के जरिये वास्तविक कार्यवृत्त तैयार करता है।

- **कमजोरियां (Weaknesses):** कोई भी सतत आजीविका दृष्टिकोण उन गरीबों की पहचान करने का तरीका स्पष्ट नहीं कर पाता, जिनकी मदद की जानी है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि समुदायों के भीतर संसाधनों तक पहुंच और आजीविका के स्तरों पर वितरण, सामाजिक प्रभाव आदि अनौपचारिक ढांचे के जरिये पहले से निर्धारित होते हैं। UNDP और CARE इस पहलू पर ध्यान नहीं देते, लेकिन DFID शक्ति संतुलन और संबंधों को रूपांतरण प्रक्रिया के एक पहलू के तौर पर प्रभावी मानता है और इसके परीक्षण की जरूरत जताता है। लिंग सामाजिक संबंधों का महत्वपूर्ण पहलू है, जिसके जरिये पुरुषों–महिलाओं की स्थिति, सामाजिक प्रभाव आदि से जुड़ी समस्याएं सामने आती हैं। तीनों ही संस्थाएं इस विषय पर कुछ ध्यान तो देती हैं, लेकिन महिलाओं को पर्याप्त स्थान दिलाने की ओर तीनों ही बहुत गहराई से दृष्टिकोण नहीं रखतीं। सतत आजीविका दृष्टिकोण का बुनियादी विचार खुले और विस्तृत विश्लेषण से है, लेकिन इसके लिये बेहद लचीली नियोजन स्थिति की आवश्यकता होती है, जो बेहद दुर्लभ है। ऐसे में यही बेहतर माना जाता है कि पहले से चिह्नित या निर्धारित सेक्टरों में विकास की ऐसी पहल की जा सके, जो लोगों की आजीविका रणनीति को बेहतर बना सके और निर्धन वर्ग की सतत आजीविका की राह में आने वाली बाधाओं को दूर कर सके।

वस्तुतः सतत आजीविका दृष्टिकोण (यदि निरंतर लागू किया जाये) कई स्थानीय प्रशासनों के लिये व्यावहारिक वास्तविकता से बाहर हो सकती है, क्योंकि इस प्रक्रिया में दाताओं और सुझावकर्ताओं को भी शामिल किये जाने की पहल होती है। इस समस्या से निपटने के लिये कर्मचारियों को बेहतर प्रशिक्षण दिये जाने और नियोजन की शुरुआत से ही उनकी सहभागिता बढ़ाने की आवश्यकता है। सतत आजीविका का सिद्धांत गरीबी उन्मूलन की पारंपरिक परिभाषाओं और सिद्धांतों से आगे जाने की प्रक्रिया है। पुराने सिद्धांत बेहद सीमित नजर आते हैं, क्योंकि वे निर्धनता के सिर्फ निम्न आय जैसे पक्षों पर ही केन्द्रित रहते हैं और निर्धनता के कारण सामाजिक उपेक्षा और अन्य नुकसानों पर अधिक ध्यान नहीं देते। अब यह माना जाने लगा है कि गरीबी उन्मूलन के लिये उन सभी कारकों पर ध्यान देना जरूरी है, जो निर्धन लोगों को

आर्थिक, पारिस्थितिक, सामाजिक सततता से बाधित करते हैं। सतत आजीविका का सिद्धांत इसके लिये अधिक बेहतर, परिष्कृत प्रतीत होता है।

6.3: सतत आजीविका (Sustainable Livelihood)

सतत आजीविका का विचार सर्वप्रथम ब्रटलैंड कमीशन की ओर से दिया गया था, जिसका उद्देश्य नीतिगत ढांचे में सामाजिक–आर्थिक और पारिस्थितिकीय परिस्थितियों को एकसाथ रखकर समझने का था। 1992 में United Nations Conference on Environment and Development (UNCED) ने एजेंडा 21 के तहत इस अवधारणा को विस्तार दिया और गरीबी उन्मूलन के लिये सतत आजीविका के वृहद लक्ष्य को हासिल करने की जरूरत जतायी। इसके अनुसार सतत आजीविका ऐसा एकीकृत घटक है जो नीतियों को विकास, सतत संसाधन प्रबंधन और गरीबी उन्मूलन के लक्ष्यों को एकसाथ हासिल करने की क्षमता प्रदान करता है। ग्रामीण क्षेत्रों (जहां अधिकतर लोग किसान हैं या उनका जीवन अपने स्तर पर किये जाने वाले उत्पादन से चलता है) में सतत आजीविका को लेकर लंबा विमर्श चला है। 1992 के एक शोधपत्र *Sustainable Rural Livelihoods: Practical concepts for the 21st Century* में रॉबर्ट चेंबर्स और गॉर्डन कॉन्वे ने सतत ग्रामीण आजीविका के लिये निम्न परिभाषा दीः

आजीविका का अर्थ क्षमताओं, संपत्तियों (भंडार, संसाधन, दावे और पहुंच) तथा उन गतिविधियों से है, जो जीवन के लिये आवश्यक हैं। आजीविका तभी सतत हो सकती है, जब यह तनावों और जोखिमों से पार पा सके, क्षमताओं और संपत्तियों का संवर्द्धन कर सके तथा भावी पीढ़ियों के लिये सतत आजीविका के अवसर प्रदान कर सके। सतत आजीविका अन्य आजीविकाओं को स्थानीय और वैश्विक स्तर पर लघु तथा दीर्घकालिक लाभ भी प्रदान करती है।

हालांकि, आजीविका की परिभाषा को विभिन्न स्तरों पर लागू किया जा सकता है, लेकिन इन दोनों ने परिवार के स्तर पर ही इसे सामान्यतः लागू करने पर जोर दिया है। इसके साथ ही परिवार के अंदर, व्यक्तिगत स्तर पर पहुंच के अवसरों की विविधता की पहचान भी की जानी चाहिये। साथ ही विस्तृत पैमाने पर सामाजिक समूहों, समुदायों के स्तर पर भी इसे देखा जाना चाहिये। आजीविका के विभिन्न घटकों में सबसे जटिल संपत्तियां हैं, जिन्हें लोग अपने जीवनस्तर की स्थापना के लिये प्रयोग करते हैं। इसमें वास्तविक संपत्तियां, भंडार (अन्न भंडार, सोना, जेवरात, नकदी, बचत आदि) शामिल हैं, तो संसाधन (जमीन, पानी, पेड़, खेती, कृषि उपकरण आदि) भी शामिल हैं। इसी तरह इसमें अमूर्त संपत्तियों के रूप में दावे (मांग, नैतिक, व्यावहारिक समर्थन आदि) और पहुंच (किसी संसाधन, भंडार के उपयोग–उपभोग के लिये पहुंच का अवसर अथवा सूचनाएं–जानकारी हासिल करने का अधिकार, भौतिक–तकनीकी साधनों के इस्तेमाल की स्वतंत्रता, रोजगार, भोजन और आय प्राप्त करने के अवसर आदि आते हैं) भी शामिल होते हैं। पर्यावणीय सततता में एक अंतर सामने आता है, जो किसी आजीविका के अन्य आजीविकाओं पर बाहरी प्रभाव को स्पष्ट करता है। इससे स्पष्ट होता है कि कोई आजीविका स्थानीय और वैश्विक संसाधनों और अपनी संपत्तियों, सामाजिक सततता को इस तरह आंतरिक रूप से सक्षम करती है कि वह बाहरी दबाव को आसानी से झेल सके, मुश्किल हालात और झटकों से जूझते हुये वह स्वयं को निरंतर सक्षम बनाये रखे। तनाव को ऐसे दबाव के रूप में देखा जाता है, जो निरंतर बने रहते हैं, लेकिन काफी हद तक इनकी संभावना और उससे होने वाले परिणामों का अनुमान लगाया जा सकता है (जैसेः मौसम, खास मौसम में

खास दिक्कतें, बढ़ता प्रदूषण, घटते संसाधन) दूसरी ओर झटकों का अर्थ उस दबाव से है, जो अचानक सामने आते हैं और जिनका पूर्वानुमान लगा पाना संभव नहीं होता (जैसेः आग, बाढ़ और महामारी आदि)। दोनों लेखक तर्क देते हैं कि सतत आजीविका की किसी भी परिभाषा में बचाव की क्षमता, यानी तनावों और झटकों से जूझने और इनसे उबरने की क्षमता, को शामिल किया जाना आवश्यक है।

Initiatives for Development Studies (IDS) की टीम ने सबसे पहले सतत आजीविका की परिष्कृत परिभाषा पेश की, जो निम्नवत हैः

'आजीविका का तात्पर्य क्षमताओं, संपत्तियों (भौतिक और सामाजिक संसाधन दोनों) और उन गतिविधियों से है, जो जीवन के लिये आवश्यक हैं। किसी आजीविका को तब सतत माना जा सकता है, जब वह तनावों और झटकों से जूझने और उबरने में सक्षम हो, अपनी क्षमताओं और संपत्तियों को संरक्षित–सवंर्द्धित कर सके और इस प्रक्रिया में प्राकृतिक संसाधनों को किसी तरह का नुकसान नहीं पहुंचाये।'

इस परिभाषा में और चेंबर्स–कॉन्वे द्वारा दी गयी परिभाषा में अंतर यह है कि उक्त परिभाषा के साथ उन दोनों का यह भी कहना था कि सतत आजीविका वह है, जो अन्य आजीविकाओं को भी लाभान्वित करे। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि IDS की परिभाषा भले ही कमतर लगे, लेकिन वह अधिक वास्तविक है। IDS टीम का एक अन्य महत्वपूर्ण योगदान यह था कि इसने सतत ग्रामीण आजीविका के वि"लेषण के लिये प्रायोगिक कार्यढांचे की रूपरेखा तैयार की (Figure 1). इसे DFID और CARE द्वारा प्रस्तुत समान कार्यढांचों का अग्रदूत माना जाता है। आजीविका संसाधनों (वास्तविक एवं अमूर्त) को पूंजी के विभिन्न प्रकार माना जाता है जो संसाधन के स्तर पर अपनी भूमिका का निर्वहन करते हैं और 'जिनसे विभिन्न उत्पादक धाराएं उभरती हैं, जिनके जरिये आजीविका का निर्माण होता है' (Scoones 1998:7). IDS ने चार तरह की पूंजी स्पष्ट की हैंः

- **प्राकृतिक पूंजी (Natural Capital)**: प्राकृतिक संसाधन भंडार (मिट्टी, पानी, हवा, आनुवंशिक संसाधन आदि) और पर्यावरणीय सेवाएं (जलचक्र, प्रदूषण आदि) इसमें शामिल हैं, जिनके जरिये संसाधन और सेवाएं आजीविका के लिये बेहतर अवसर प्रदान करती हैं
- **आर्थिक–वित्तीय पूंजी (Economic or Financial Capital)**: पूंजी का वह आधार (नकदी, उधार, बचत, आर्थिक संपत्तियां, बुनियादी अवस्थापना ढांचा, उत्पादन उपकरण और तकनीक) जो आजीविका को आगे बढ़ाने में सहायक होता है।
- **मानवीय पूंजी (Human Capital)**: कौशल, ज्ञान, श्रम क्षमता, बेहतर स्वास्थ्य एवं शारीरिक क्षमता दुष्कर परिस्थितियों में आजीविका के सफल संचालन के लिये आवश्यक हैं।
- **सामाजिक पूंजी (Social Capital)**: सामाजिक संसाधन (सामाजिक संबंध, मान्यताएं, समन्वय, नेटवर्क आदि) के जरिये ही लोग आजीविका संचालन के लिये रणनीति तय कर पाते हैं और सफलता के लिये बेहतर संयोजन, सहयोग करते हैं।

पूंजीगत संपत्तियां संसाधनों के प्रकारों को स्पष्ट करती हैं, जिन्हें अकसर संयुक्त रूप से जीवन में उपयोग किया जाता है। स्कून्स कहते हैं, 'आजीविका रणनीति के लिये जरूरी आजीविका संसाधनों (या पूंजियों के समहों) की पहचान करना विश्लेषण की प्रक्रिया की दिशा में बुनियादी कदम है।' आजीविका रणनीतियां

खुद भी अपने आप में विश्लेषण का विषय हो सकती हैं, क्योंकि अकसर वे विभिन्न गतिविधियों का संयुक्त उपक्रम होती हैं। स्कून्स इसे 'आजीविका निवेशसूची' (Livelihood Portfolio) कहते हैं। इसमें या तो उच्चस्तरीय एक–दो विशिष्ट गतिविधियां हो सकती हैं अथवा यह विविध गतिविधियों का संयोजन हो सकता है। इसके अलावा दीर्घकालिक प्रक्रिया में कई बार नये और अलग आजीविका मार्गों को भी अपनाया जा सकता है (पीढ़िगत अंतर, मौसमी कारण आदि की वजह से) जो परिवारों के घरेलू चक्र अथवा स्थानीय एवं बाहरी परिस्थितियों के कारण होने वाले बुनियादी परिवर्तनों का परिणाम होता है। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का विश्लेषण किया जाना चाहिये। इस तरह आजीविका रणनीतियां अकसर व्यक्ति और परिवार के बीच इस आधार पर चलती रहती हैं कि संपत्तियों पर अधिकार किसका है, आय का स्तर क्या है, लिंग, आयु, जाति और सामाजिक–राजनीतिक स्थिति क्या है। ऐसे में सामाजिक रूप से विशिष्ट विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण आवश्यक है।

जिन जटिल प्रकियाओं के जरिये आजीविका निर्माण होता है, उन्हें समझने के लिये स्कून कुछ जरूरी सुझाव देते हैं। वह बताते हैं कि आजीविका संसाधनों, रणनीतियों के पहलुओं को अलग–अलग कारक के तौर पर विश्लेषण करना काफी नहीं है। बल्कि सांस्थानिक प्रक्रियाओं और सांगठनिक ढांचे का विश्लेषण किया जाना चाहिये, जिसमें ये सभी घटक संयुक्त होते हैं। इस सन्दर्भ में यह भी जानना जरूरी है कि स्कून्स ने संस्थान (Institution) की परिभाषा क्या दी है। वह कहते हैं, 'नियमों और मानकों के जरिये संचालित होने वाले नियमित गतिविधियां और व्यवहार जो व्यापक पैमाने पर प्रसारित और सशक्त हैं।' ये औपचारिक और अनौपचारिक हो सकते हैं, कई बार ये प्रवाहमान और अस्पष्ट, लेकिन शक्तिसंपन्न होते हैं। इस तरह के संस्थान प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आजीविका संसाधनों तक पहुंच को निर्धारित करते हैं, जिनका सीधा असर आजीविका रणनीतियों के विकल्पों और अंततः सतत आजीविका के परिणामों पर पड़ता है। इन संस्थानों की समझ, उनमें छिपे सामाजिक संबंधों और शक्ति की गतिशीलता को जानना आवश्यक है। हालांकि, सैद्धान्तिक रूप से सतत आजीविका को संचालित करने वाले विभिन्न आयामों और कारकों की पहचान कर पाना आसान होता है, लेकिन वस्तुतः व्यावहारिक और वास्तविक स्वरूप में अहम कारकों और बाधाओं को निश्चित कर पाना कठिन होता है। इसकी बड़ी वजह यह है कि हर परिस्थिति अलग होती है और उसका अपना अलग विश्लेषण किया जाना आवश्यक होता है। सतत आजीविका परिस्थितियों पर ही निर्भर होती है। ऐसे में यह आवश्यक है कि सतत आजीविका विश्लेषण में स्थानीय लोगों, उनके ज्ञान, उनकी अनुभूतियों, रुचियों को सुना–समझा जाये। सतत आजीविका की अवधारणा पर काम करने वाले अधिकतर विशेषज्ञ इसका ही अनुसरण करते हैं।

निर्धनता में सतत आजीविका दृष्टिकोण (SL Approach to Poverty)

सतत आजीविका अवधारणा की विभिन्न व्याख्याओं ने विभिन्न विकास संस्थाओं को इन्हें लागू करने के लिये प्रेरित किया, जिसे आम शब्दों में गरीबी उन्मूलन के लिये सतत आजीविका के तौर पर जाना जाता है। यह दृष्टिकोण दरअसल, गरीबी उन्मूलन के लिये पहले अपनाये गये पारंपरिक दृष्टिकोणों के नकारात्मक प्रभावों के फलस्वरूप उभरा। इसके अलावा निर्धनता को गहराई से समझने और प्रकृति को जानने की प्रक्रिया से निकले परिणाम भी इसकी वजह रहे। गरीबी उन्मूलन के लक्ष्य को हासिल करने के लिये सतत आजीविका दृष्टिकोण को क्यों अपनाया गया, इसकी तीन प्रमुख वजह हैं:

1. हालांकि गरीबी उन्मूलन के लिये आर्थिक विकास आवश्यक है, लेकिन इन दोनों घटकों का परस्पर सीधा संबंध नहीं होता, क्योंकि यह इस बात पर निर्भर करता है कि निर्धन वर्ग के लोगों में विकास प्रक्रिया का लाभ ले पाने की क्षमता है या नहीं। ऐसे में यह समझना आवश्यक है कि वे कौन सी बाधाएं हैं जो निर्धन लोगों को अपने हालात में सुधार से रोकती हैं। इसके जरिये सहायक गतिविधियों को संचालित किया जा सकता है, ताकि वे बेहतरी हासिल कर सकें।
2. यह वास्तविकता है कि निर्धनता का अर्थ सिर्फ कम आय से ही नहीं है (जैसा कि निर्धन लोग स्वयं समझते हैं), बल्कि इसमें स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव, निरक्षरता, सामाजिक सुविधाओं और सेवाओं की कमी, शक्तिहीनता जैसे विभिन्न आयाम भी जुड़ते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि इन सभी आयामों में परस्पर गहरा संबंध होता है। कई विश्लेषणों से स्पष्ट हुआ है कि किसी भी एक आयाम में सुधार अन्य आयामों में भी धीरे–धीरे सुधार का जरिया बन जाता है। उदाहरण के लिये, लोगों की शिक्षा के स्तर में बढ़ोतरी से स्वास्थ्य मानक बेहतर हो सकते हैं जो भविष्य में उत्पादन क्षमता को बेहतर बनाने का माध्यम बन सकती है। इसी तरह निर्धन वर्गों के सामने आने वाले जोखिम कम हों तो वे अधिक उत्पादक और लाभकारी आर्थिक गतिविधियों में शामिल होकर समृद्धि हासिल कर सकते हैं।
3. तीसरा पहलू यह है कि निर्धन वर्ग खुद जानते हैं कि उनकी स्थिति क्या है और इस स्थिति से उबरने के लिये उन्हें किन चीजों, सुधारों की आवश्यकता है। ऐसे में नीतियों और परियोजनाओं के निर्माण में संबंधित वर्ग को पर्याप्त तवज्जो दी जान चाहिये। उन्हें सहभागी बनाया जाना चाहिये। इस तरह तैयार की जाने वाली नीतियां और परियोजनाएं इसलिये सफल होती हैं कि उन्हें बेहतर तरीके से लागू किया जाना संभव हो पाता है। इस तरह निर्धन वर्ग के लोगों की सहभागिता किसी योजना–परियोजना अथवा नीति की सफलता के लिये आवश्यक है।

विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय विकास एजेंसियों ने अपनी प्रायोगिक विकास परियोजनाओं में आजीविका दृष्टिकोण को अपनाया है। हालांकि, इन सबके बीच किसी एक को ही बुनियादी सिद्धांत नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सभी संस्थाओं ने सतत आजीविका के अलग–अलग दृष्टिकोण पर काम किया है। किसी ने इसे प्राथमिक साधन की तरह अपनाया है तो किसी ने नियोजन, कार्यक्रम और मूल्यांकन से जुड़ा अपना विशेष कार्यढांचा इसके ही आधार पर तैयार किया है। फिर भी हर दृष्टिकोण में तीन बुनियादी विशिष्टताएं मिलती हैं। पहला यह है कि सबमें निर्धनों की आजीविका केन्द्रबिन्दु रहा है। दूसरा, यह क्षेत्रविशेष (कृषि, पानी या स्वास्थ्य आदि) की स्थिति के बजाय लोगों के मौजूदा आजीविका व्यवस्था के विश्लेषण से शुरुआत करता है, ताकि किस क्षेत्र में प्रवेश करना बेहतर होगा, यह तय किया जा सके। तीसरा और अंतिम गुण यह है कि यह गतिविधियों की पहचान और उन्हें लागू करने के दौरान जनसहभागिता पर जोर देता है। कई मामलों में सतत आजीविका दृष्टिकोण पुराने एकीकृत ग्राम्य विकास दृष्टिकोण (Integrated Rural Development Apprpach: IRD) के समान नजर आता है। अहम अंतर यह है कि सतत आजीविका में निर्धन वर्ग की आजीविका के सभी पहलुओं पर अनिवार्य रूप से केन्द्रित नहीं हुआ जाता है, बल्कि इसका मकसद आजीविका के विश्लेषण करने के लिये समग्र दृष्टिकोण अपनाना है ताकि उन विषयक्षेत्रों की पहचान की जा सके, जहां प्रवेश करना निर्धनता उन्मूलन की दिशा में प्रभावी परिणाम दिला सकता है। यह स्थानीय अथवा नीतिगत स्तर पर भी हो सकता है। सतत आजीविका दृष्टिकोण के समर्थकों ने इसे विकास का 'एक्यूपंक्चर' दृष्टिकोण कहा है, जो बिल्कुल सही स्थान पर सुई रखता है।

6.4: तुलनात्मक अध्ययन (Comparison: UNDP, CARE & DFID)

अब हम जानेंगे कि तीन विकास संस्थाओं यूनाइटेड नेशन्स डेवलपमेंट प्रोग्राम (UNDP), अंतर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संस्था CARE और DFID ने अपने कार्यों में सतत आजीविका दृष्टिकोण का इस्तेमाल किया है। इन तीनों संस्थाओं का चयन करने के पीछे वजह यह है कि इन तीनों ने सतत आजीविका दृष्टिकोण को बिल्कुल अलग–अलग तरीके से प्रयोग किया है। यहां हम इन तीनों संस्थाओं द्वारा सतत आजीविका के जरिये अपनायी गयी कार्यनीतियों और सैद्धान्ति कार्यढांचे को तुलनात्मक रूप से समझने का प्रयास करेंगे।

UNDP

सतत आजीविका दृष्टिकोण का विस्तार यूएनडीपी के 1995 से लागू सतत मानव विकास (Sustainable Human Development: SHD) संकल्प का अभिन्न भाग है। इसमें निर्धनता उन्मूलन, रोजगार, सतत आजीविका, लिंग, सुरक्षा, पर्यावरण संरक्षण एवं शासन जैसे पहलू शामिल हैं। सतत आजीविका दृष्टिकोण यूएनडीपी के लिये निर्धनता उन्मूलन का माध्यम है, हालांकि संस्था के अन्य विभिन्न लक्ष्यों के लिये अन्य कार्यनीतियां भी अपनायी जाती हैं (जैसे– लघु आर्थिक विकास, सामुदायिक विकास, समुदाय आधारित प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन आदि)। यूएनडीपी का सतत आजीविका दृष्टिकोण निर्धनता उन्मूलन के अवधारणात्मक और कार्यक्रम आधारित सतत कार्यढांचे को तैयार करता है। अवधारणात्मक रूप से देखें तो आजीविका वे तौर–तरीके, गतिविधियां, संपत्तियां आदि हैं, जिनके जरिये मानव जीवन जीता है। संपत्तियों में प्राकृतिक (भूमि, जल, वनस्पतियां, जीव–जन्तु आदि), सामाजिक (समुदाय, परिवार, सामाजिक परिवेश आदि), राजनीतिक (सहभागिता, सशक्तीकरण), मानवीय (शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य, पोषण), भौतिक (सड़कें, अस्पताल, बाजार, स्कूल, पुल आदि) और आर्थिक (रोजगार, बचत, नगदी आदि) संपत्तियां शामिल हैं। आजीविका की सततता वह कार्य है, जिसमें पुरुष और महिलाएं संपत्ति निवेश को लघु और दीर्घकालिक आधार पर प्रयोग करते हैं। इस लिहाज से हम कह सकते हैं कि सतत आजीविका:

- रणनीतियों के इस्तेमाल और अनुसरण के जरिये झटकों, नुकसान, तनाव और समस्याओं का सामना करने और इनसे उबरने में सक्षम होती है
- आर्थिक रूप से यह बेहद प्रभावी होती है
- पारिस्थितिकी रूप से यह सशक्त होती है और यह सुनिश्चित करती है कि आजीविका संबंधी गतिविधियां प्राकृतिक संसाधनों को किसी तरह का नुकसान नहीं पहुंचायेंगी
- सामाजिक समानता को बढ़ावा देती हैं, यह सुनिश्चित करती हैं कि किसी एक समूह के लिये जिन आजीविका अवसरों को उपलब्ध कराया जा रहा है, वे दूसरे समूह के लिये वर्तमान अथवा भविष्य में समान रूप से उपलब्ध हों

यूएनडीपी निर्धनता उन्मूलन के लिये संपत्तियों तक लोगों की पहुंच और इसकी सततता को मुख्य बिन्दु मानता है, लिहाजा इसका सतत आजीविका का दृष्टिकोण संपत्ति आधारित है। इसके लिये यह उन कदमों, रणनीतियों को समझने की कोशिश करता है जो लोगों द्वारा परेशानी के दौरान अपनाये जाते हैं। रणनीति संबंधी कदम लघुकालिक होते हैं, उदाहरण के लिये सूखा पड़ने के दौरान लिये जाने वाले फैसले, दूसरी ओर अनुसरणात्मक कदम दीर्घकालिक होते हैं जो किसी समस्या के कारण व्यावहारिक तौर–तरीकों में बदलाव की वजह बनते हैं। यूएनडीपी लोगों को निर्धनता से निकलने के लिये तकनीकी सुधारों को महत्व देता है। यूएनडीपी जिन अन्य बिन्दुओं पर जोर देता है, वे हैंः दृष्टिकोण का मूलबिन्दु लोगों की जरूरतों के बजाय उनकी ताकत पर होना चाहिये, लोगों की आजीविका पर असर डालने वाले नीतियों और शासन पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है और सततता (जैसा उपरोक्त चार बिन्दुओं में बताया गया है) का निरंतर मूल्यांकन व समर्थन किया जाना चाहिये। यूएनडीपी आमतौर पर राष्ट्रीय स्तर पर काम करता है और जिला व ग्राम स्तर पर विभिन्न विशिष्ट कार्यक्रमों और गतिविधियों का संचालन करता है।

इस प्रक्रिया में सतत आजीविका दृष्टिकोण को लेकर सबसे पहले शासन स्तर पर विमर्श किया जाता है। उदाहरण के लिये विशेष सुझाव और देशीय सहयोग कार्यढांचा। इसके बाद अगले चरण में कार्यक्रमों–योजनाओं के चक्र की ओर बढ़ा जाता है, जिन्हें सतत आजीविका कार्यक्रम कहा जाता है। इस प्रक्रिया को सरल बनाने के लिये यूएनडीपी ने नियोजन, कार्यक्रम, इन्हें लागू करने और इनके मूल्यांकन की पांच चरण की अपनी सैद्धान्तिक प्रक्रिया प्रतिपादित की है। यह निम्नवत हैः

- सहभागिता का मूल्यांकन किसी समुदाय विशेष में जोखिम, संपत्तियों और पारंपरिक ज्ञान के आधार पर किया जाता है, जो दरअसल वे रणनीतियां और तरीके होते हैं, जिन्हें समुदाय के पुरुष–महिलाएं समस्याओं से निपटने के लिये अनुसरण करते हैं
- लोगों की आजीविका रणनीतियों को प्रभावित करने वाली सूक्ष्म, लघु और क्षेत्रवार नीतियों का विश्लेषण
- आधुनिक विज्ञान और तकनीकी क्षमताओं के योगदान का मूल्यांकन, जो आजीविका में सुधार के लिये पारंपरिक ज्ञान व्यवस्था का पूरक बनते हैं
- आजीविका रणनीतियों को मदद करने वाले और बाधाएं पहुंचाने वाले सामाजिक–आर्थिक निवेश तंत्र (जैसेः सूक्ष्म–वित्तीय प्रक्रियाएं, शिक्षा और स्वास्थ्य पर खर्च आदि) की पहचान
- यह सुनिश्चित करना कि उपरोक्त चार चरण एकसाथ एक ही समय पर एकीकृत रूप से संपन्न हों, ताकि यह प्रक्रिया विकास के समग्र कार्यक्रम का हिस्सा बन सके
- यूएनडीपी ने हर चरण के लिये अलग सैद्धान्तिक माध्यम विकसित किये हैं। इनमें सहभागिता मूल्यांकन और सतत आजीविका के लिये नियोजन (Participatory Assessment and Planning for SL: PAPSL) शामिल है। यह कार्यक्रम सतत आजीविका के दस्तावेजीकरण की प्रक्रिया है, जिसका इस्तेमाल यूएनडीपी के विभिन्न देशों में स्थित कार्यालयों की ओर से कार्यक्रमों के सफल संचालन के लिये किया जाता है। सतत आजीविका पर विभिन्न शोधकार्य, विश्लेषण भी इसके जरिये किया जाता है।

यूएनडीपी के दृष्टिकोण से संबंधित तर्क एवं पदानुक्रम को हम निम्न चित्र से समझ सकते हैं:

UNDP's approach to promoting sustainable livelihoods.

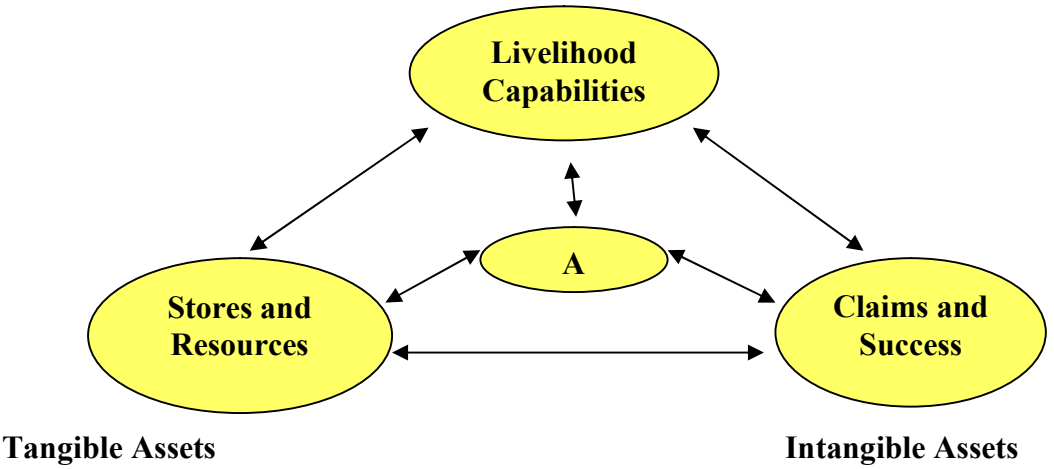

CARE

अंतर्राष्ट्रीय गैरसरकारी संगठन के रूप में केयर (Cooperative for Assistance and Relief Everyehere: CARE) का सांगठनिक लक्ष्य सबसे उपेक्षित और निर्धनतम वर्ग के लोगों की मदद के लिये कार्यक्रमों का संचालन करना है। इसके लिये संस्था या तो निरंतर विकास कार्यक्रम संचालित करती है या फिर राहत कार्य करती है। 1994 से केयर ने परिवार आजीविका सुरक्षा (Household Livelihood Security: HLS) को अपना मुख्यबिन्दु बनाया हुआ है, जिसके जरिये संस्था कार्यक्रम संचालन, विश्लेषण, नियोजन, निगरानी और मूल्यांकन करती है। परिवार आजीविका सुरक्षा की अवधारणा का आधार चेंबर्स और कॉन्वे की आजीविका परिभाषाएं ही हैं। इसमें तीन बुनियादी बिन्दुओं पर ध्यान दिया जाता है, 1. मानवीय अधिकार क्षमता (शिक्षा, कौशल, स्वास्थ्य, मनौवैज्ञानिक प्रक्रियाएं) 2. वास्तविक एवं अमूर्त संपत्तियों तक पहुंच 3. आर्थिक गतिविधियों का अस्तित्व। इन तीनों के अंतर्संबंध ही तय करते हैं कि कोई परिवार आजीविका के लिये किन रणनीतियों को अपनाता है। केयर की परिवार आजीविका सुरक्षा की परिभाषा विकासपरक क्षमता के विकास, लोगों को बाहर मदद के जरिये अपनी आजीविका का स्वनिर्धारण करने की क्षमता विकसित करने पर जोर देती है। इस दृष्टिकोण ने केयर के विकास में निम्न तीन बदलाव किये:

- क्षेत्रीय और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा के बजाय अब परिवार और व्यक्ति के स्तर पर खाद्य सुरक्षा तथा पोषण की स्थिति पर संस्था ध्यान केन्द्रित करती है
- पहले भोजन (Food First) उपलब्ध कराने के दृष्टिकोण के बजाय अब आजीविका दृष्टिकोण पर ध्यान दिया जाता है, जिसका फोकस न सिर्फ खाद्यान्न उत्पादन पर है, बल्कि उस क्षमता पर भी है

कि परिवार और व्यक्ति किस तरह आवश्यक पोषण के लिये अतिरिक्त खाद्यान्न भंडारण कर पाते हैं या नहीं

- खाद्योत्पादन के भौतिक दृष्टिकोण से संस्था अब सामाजिक दृष्टिकोण पर भी ध्यान केन्द्रित करती है, जिसका फोकस लोगों की अपनी आजीविका को सुरक्षित रखने की क्षमताओं में वृद्धि करना है (Drinkwater and Rusinow,1999).

निम्न चित्र केयर के आजीविका मॉडल को स्पष्ट करता है। इसका केन्द्र परिवार की आजीविका रणनीति है। चित्र में दर्शाये गये संपत्ति बॉक्स में परिवार के सदस्यों की क्षमताएं भी निहित हैं इसके अलावा इससे यह भी स्पष्ट होता है कि परिवार की किन संसाधनों और संपत्तियों तक पहुंच हासिल है, साथ ही यह भी कि उनकी सूचनाओं–जानकारियों तक कितनी पहुंच है और वे दूसरों को कैसे और कितना प्रभावित कर पाते हैं, संबंधियों के साथ उनके संबंध और दावों की स्थिति समेत अन्य कारक भी इसमें शामिल हैं। इस पूरी प्रक्रिया में यह स्पष्ट होता है कि उत्पादन और आय ही आजीविका में सुधार के अंतिम माध्यम नहीं हैं। परिवारों की आजीविका सुरक्षा की स्थिति में आने वाले परिवर्तनों के विश्लेषण के लिये उपभोग और परिवार के सदस्यों की संपत्तियों के स्तर पर निगरानी आवश्यक है।

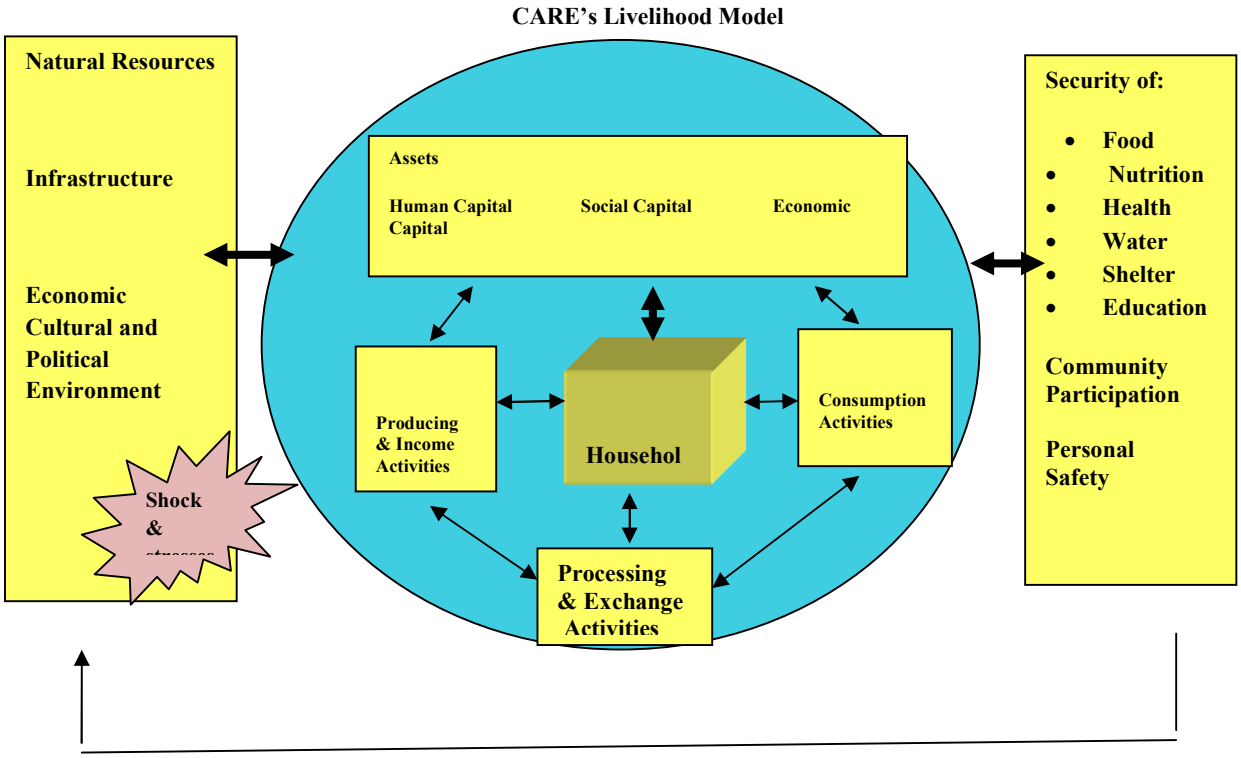

केयर अपने सिद्धान्त को निम्न चरणों में संचालित करती है:

- उन भौगोलिक क्षेत्रों की पहचान करना, जहां निर्धनता अधिक है, इनका डाटा और जानकारियां एकत्र करना
- उपेक्षित समुदायों की पहचान करना और उन बाधाओं को समझना, जिनसे वे जूझते हैं

- केयर के समग्र आजीविका मॉडल के आधार पर विश्लेषणात्मक आंकड़े जुटाना, अलग–अलग समय की स्थिति–परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये उन कारकों की पहचान करना, जिनकी नियमित निगरानी आवश्यक है
- विकास कार्यक्रम व राहत कार्यों के संचालन के लिये उपयुक्त समुदायों के समूहों का चयन (Carney et al., 1999)

बीते पांच साल में त्वरित एवं सहभागी आजीविका सुरक्षा मूल्यांकन (Rapid and Participatory Livelihood Security Assessments: RLSA or PLA) सामुदायिक स्तर पर सूचनाओं और जानकारियों के विश्लेषण एवं संकलन का अहम माध्यम बन चुका है। इस मूल्यांकन का मुख्य लक्ष्य विविध कार्यक्रमों के जरिये परिवारों की विभिन्न श्रेणियों (सामाजिक विभिन्नताओं के अनुसार) की आजीविका रणनीतियों को समझना, उनकी आजीविका सुरक्षा के स्तर का अध्ययन और उनके सामने आने वाली बाधाओं तथा अवसरों को जानना है। इन जानकारियों को लिंग और पीढ़ी के भेद के अनुरूप अलग–अलग भी जुटाया जाता है (Frankenberger at al., 2000).

Figure 4. CARE's programming principles for livelihood projects.

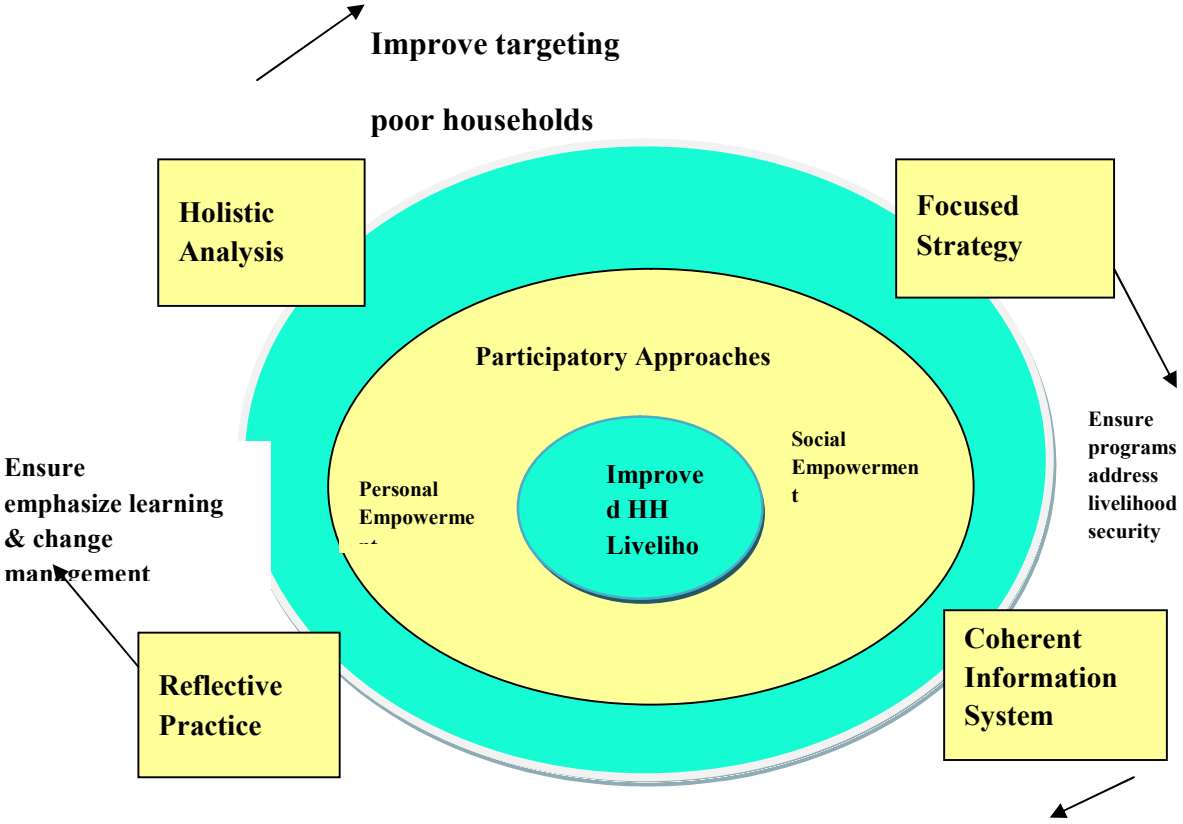

DFID

डिपार्टमेंट फॉर इंटरनेशनल डेवलपमेंट (DFID) ने वर्ष 1997 में ब्रिटिश शासन के अंतर्राष्ट्रीय विकास पर आधारित श्वेतपत्र से आजीविका की अवधारणा को लिया। इसके साथ ही डीएफआईडी का लक्ष्य तय किया

गया कि यह निर्धन देशों में गरीबी उन्मूलन को कम करेगा। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिये तय किये गये तीन उद्देश्यों में से एक सतत आजीविका को बढ़ावा देने वाली नीतियों और गतिविधियों को दृढ़ता से लागू करना है। (Carney et al., 1999). डीएफआईडी की परिभाषा मुख्यतः आईडीएस की परिभाषा का अनुसरण करती है, जो मूलतः चेंबर्स और कॉन्वे की परिभाषा का विस्तार है। डीएफआईडी के सतत आजीविका दृष्टिकोण का मकसद निर्धनता उन्मूलन की दिशा में संस्थान की ओर से प्रभावी कदम उठाना, कार्यक्रमों के संचालन में समग्रता लाना और उन मुद्दों–क्षेत्रों की पहचान करना जो लोगों की आजीविका को बढ़ाने के लिये प्रत्यक्ष रूप से प्रासंगिक हैं। डीएफआईडी के दृष्टिकोण के बुनियादी सिद्धान्त निम्नवत हैं। डीएफआईडी के विभिन्न विकास कार्यों में इनका इस्तेमाल होता है:

- **जनकेन्द्रित (People Centred)**: सतत गरीबी उन्मूलन तभी संभव हो सकता है, जब बाहरी समर्थन का फोकस उन बातों पर हो, जो लोगों पर असर डालती हैं। इसके अलावा लोगों और समूह के बीच के अंतर को भी समझना आवश्यक है। मौजूदा आजीविका रणनीतियों, सामाजिक पर्यावरण और अनुसरण की क्षमता की पहचान भी जरूरी है।
- **उत्तरदायित्व एवं सहभागिता (Responsive and Participatory)**: निर्धन लोगों को स्वयं इतना सक्षम होना चाहिये कि वे आजीविका प्राथमिकताओं को न सिर्फ पहचान सकें, बल्कि सक्रिय सहभागिता निभायें। इसके लिये बाहरी लोगों के लिये जरूरी है कि वे निर्धन वर्ग के लोगों से संवाद स्थापित करें और उनकी समस्याओं के निस्तारण को लेकर उत्तरदायी भी बनें।
- **बहुस्तरीय (Multilevel)**: निर्धनता उन्मूलन की चुनौती को विभिन्न स्तरों पर काम करके ही दूर किया जा सकता है। इसके लिये लघुस्तरीय विकास गतिविधियों, नीतियों और क्षमता विकास परिवेश के निर्माण की जरूरत है। यह भी सुनिश्चित करना आवश्यक है कि सूक्ष्मस्तरीय ढांचे और गतिविधियां लोगों के सशक्तीकरण की दिशा में काम करें।
- **संचालन साझेदारी (Conducted in Partnership)**: सार्वजनिक और निजी सेक्टर दोनों के साथ विभिन्न विकास कार्यक्रमों के संचालन के लिये उपयुक्त साझेदारी
- **सततता (Sustainable)**: सततता के चार मूल आयाम हैं– आर्थिक, सांस्थानिक, सामाजिक और पर्यावरणीय सततता। चारों महत्वपूर्ण हैं और इन चारों के बीच बेहतरीन संतुलन की स्थापना आवश्यक है।
- **गतिशील (Dynamic)**: बाहरी समर्थन के लिये आजीविका रणनीतियों की गतिशीलता को पहचानना जरूरी है। लोगों की स्थिति में बदलाव के लिये लचीलापन अपनाया जाना चाहिये, साथ ही दीर्घकालिक विकास योजनाओं का संचालन जरूरी है जो धीरे–धीरे बदलाव करें।

DFID's SL framework

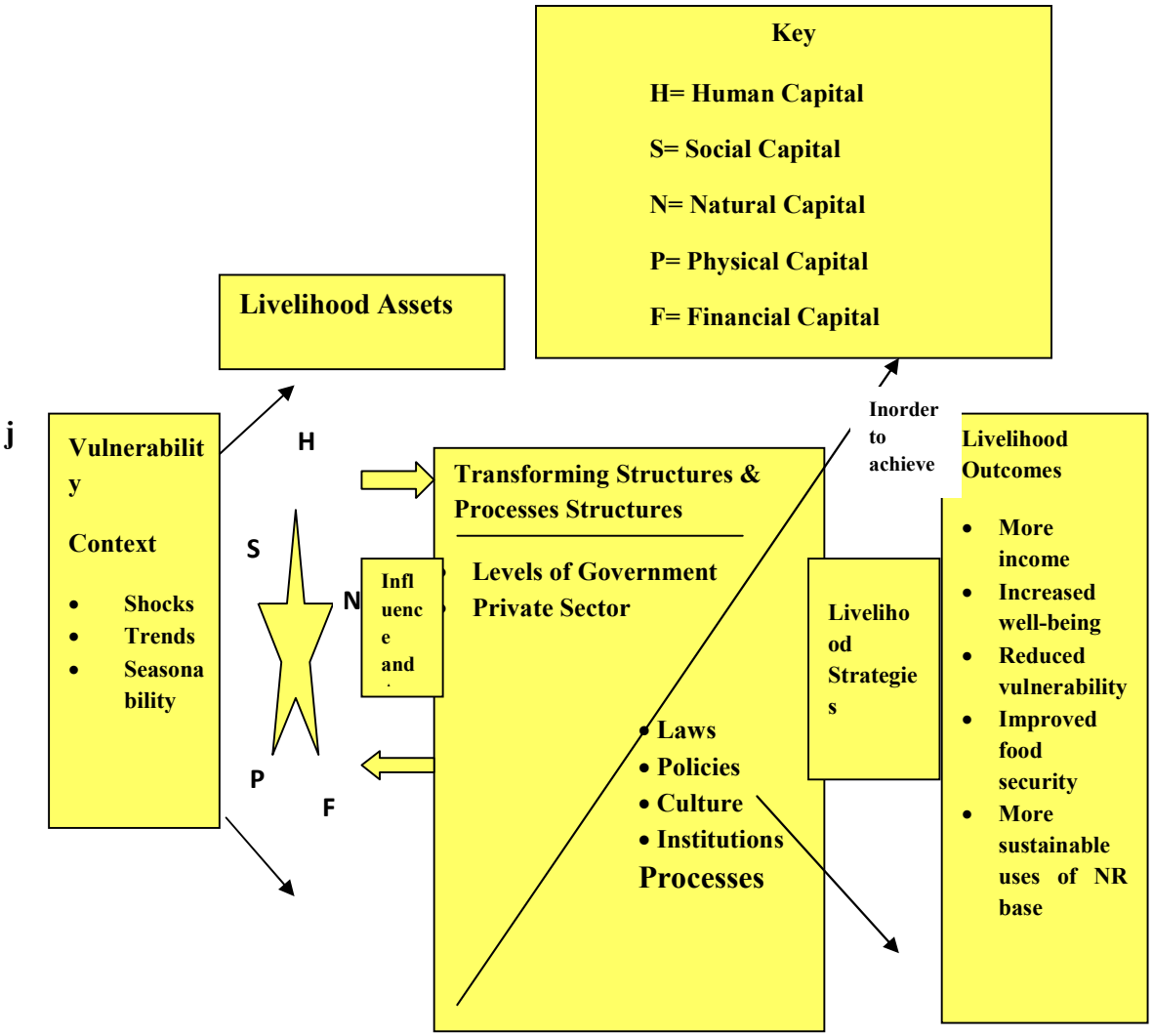

सतत आजीविका दृष्टिकोण को निर्धनता उन्मूलन की दिशा में दृढ़तापूर्वक प्रतिबद्ध रहना चाहिये। यद्यपि उन्हें किसी भी हितधारक समूह में लागू किये जाने वाले कार्यों में सैद्धान्तिक रूप से लागू किये जा सकते हैं, लेकिन निर्धनों के आजीविका लाभ में अभिवृद्धि ही डीएफआईडी का बुनियादी सिद्धान्त है। (taken from Ashley and Carney, 1999). उपरोक्त चित्र में हम डीएफआईडी के सतत आजीविका दृष्टिकोण के केन्द्रीय तत्वों को समझ पायेंगे। कार्यढांचे को वास्तविक मॉडल नहीं माना गया है, लेकिन यह विभिन्न कारकों को व्यवस्थित तरीके से समझने और विश्लेषण का माध्यम है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आजीविका रणनीतियों में क्या बाधाएं आती हैं, साथ ही विभिन्न कारकों के अंतर्संबंध क्या हैं। कार्यढांचा निर्धनता की किसी स्पष्ट परिभाषा को निर्धारित नहीं करता है (जो विशिष्ट सन्दर्भयुक्त हों और इसके लिये विभिन्न समूहों में अलग–अलग परीक्षण की आवश्यकता हो)। (DFID, 1999). सतत आजीविका कार्यढांचा आजीविका संपत्तियों की पांच सैद्धान्तिक श्रेणियों से स्थापित होता है। विश्लेषण का महत्वपूर्ण भाग विभिन्न संपत्तियों (भौतिक, मानवीय, वित्तीय, प्राकृतिक एवं सामाजिक) तक लोगों की पहुंच और इनके जरिये उनकी उत्पादन क्षमता का विश्लेषण है। कार्यढांचा विभिन्न संस्थाओं, नीतियों, संगठनों, आजीविका को ढालने वाले

सांस्कृतिक तौर तरीकों का भी मूल्यांकन करता है। इसमें यह ध्यान रखा जाता है कि कौन सा समूह किस तरह की संपत्तियों तक पहुंच रखता है और कौन सी आजीविका रणनीतियां खुली हैं यानी लोगों को आकर्षित करती हैं (Carney 1998). डीएफआईडी के अनुसार इस तरह के कार्यढांचे के उपयोग का मूल्य, 'उपयोगकर्ता को निर्धनता के विभिन्न कारणों को विस्तृत, वृहद एवं व्यवस्थित दृष्टि से देखने को उत्साहित करता है (इनमें चुनौतियां, जोखिम, कमजोर नीतियां और सांस्थानिक प्रक्रियाएं, संपत्तियों का बुनियादी अभाव शामिल होते हैं)। इसके अलावा यह इन सबके अंतर्संबंधों को भी स्पष्ट करता है। यह निर्धनता के क्षेत्रवार अध्ययन के बजाय विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न संपत्तियों के भंडारण में योगदान पर ध्यान केन्द्रित करता है, जो लोगों को आजीविका को सतत बनाये रखने में मददगार होता है। इसका मकसद यह स्पष्ट करना है कि लोग किस तरह अपने लक्ष्य हासिल करते हैं, साथ ही विभिन्न समूहों की गतिशीलता और काम के तौर–तरीकों को स्पष्ट करना भी है।' (DFID 1999).

डीएफआईडी विभिन्न परियोजनाओं और कार्यक्रमों के संचालन के लिये अपने कार्यढांचों में सतत आजीविका दृष्टिकोण का इस्तेमाल करता है। इसके जरिये मौजूदा गतिविधियों के पुनर्मूल्यांकन, रणनीतिक विमर्श, शोधकार्यों को भी वह चलाता है। इतना ही नहीं, डीएफआईडी अपने कर्मचारियों और अन्य लोगों के लिये व्यापक निर्देश सूची को अंतिम रूप से तैयार कर रहा है, जिसमें सूचनाओं के एकत्रीकरण के लिये विभिन्न जरूरी माध्यम और उपकरणों–साधनों की जानकारी उपलब्ध होगी। डीएफआईडी का सतत आजीविका दृष्टिकोण इस दिशा में चलाये जाने वाले कार्यक्रमों के लिये उठाये जाने वाले आवश्यक कदमों की जानकारी देता है। यह उन मुद्दों, समस्याओं, क्षेत्रों के विश्लेषण पर ध्यान केन्द्रित करता है जो निर्धनता के कारक हैं ताकि इनके जरिये सामने आने वाले परिदृश्य पर काम कर निर्धनता उन्मूलन का लक्ष्य हासिल किया जा सके। डीएफआईडी के लिये प्रभावी योगदान के दो महत्वपूर्ण क्षेत्र निम्नवत हैं:

- संपत्तियों का प्रत्यक्ष समर्थन (यानी निर्धन लोगों को उन संपत्तियों तक पहुंच बढ़ाने की दिशा में प्रयास करना जो उनकी आजीविका में बुनियाद के तौर पर काम करते हैं)
- विभिन्न ढांचों और प्रक्रियाओं का समर्थन (नीतियां, सार्वजनिक एवं निजी संगठन, बाजार, सामाजिक संबंध आदि) जो न सिर्फ संपत्तियों तक पहुंच को प्रभावित करती हैं, बल्कि उन रणनीतियों पर भी असर डालती हैं जो लोगों से सीधे जुड़ी हैं

इन दोनों क्षेत्रों को प्रायोगिक तौर पर ही तर्कसंगत रूप से चित्रित किया जा सकता है। यहां डीएफआईडी जैसी बाहरी संस्था से रणनीतिक प्रभाव की अपेक्षा की जा सकती है, उदाहरण के लिये सशक्तीकरण। आमतौर पर कहें तो मूल विचार संपत्तियों तक लोगों की पहुंच को बढ़ाना और उनकी कार्यढांचे तथा प्रक्रियाओं को प्रभावित करने की क्षमता में वृद्धि करना है ताकि वे अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिये अपने स्तर पर और बेहतर ढंग से प्रयास कर सकें (Carney et al., 1999).

6.5: सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दिक्कतें (Methodological and Practical difficulties)

निर्धनता उन्मूलन में सतत आजीविका दृष्टिकोण का इस्तेमाल लाभकारी तो है, लेकिन यह कई सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दिक्कतों को उभारता है। यहां हम ऐसे ही कुछ बिन्दुओं पर चर्चा करेंगे:

निर्धन कौन हैं (Who Are The Poor)

सतत आजीविका दृष्टिकोण का प्राथमिक लक्ष्य गरीबी उन्मूलन है। ऐसे में यह सुनिश्चित करना भी आवश्यक है कि गरीब कौन हैं? विभिन्न शोधकार्यों पर नजर डालें तो साफ होता है कि निर्धनता दरअसल बहुआयामी घटनाओं का परिणाम है, जिन्हें सामान्यतः सिर्फ आर्थिक कमजोरी पर ही केन्द्रित नहीं किया जा सकता है। निर्धन लोगों की पहचान के कुछ संभावित तरीके हैं। पहला तरीका उस भौगोलिक क्षेत्र का चयन करना है, जहां निर्धनता की व्यापकता की जानकारी उपलब्ध है। ऐसे क्षेत्र के लिये यह माना जा सकता है कि वहां रहने वाले अधिकतर लोग निर्धन वर्ग से ही संबंधित हैं। इसके अलावा सड़क से दूरी, पारंपरिक उपेक्षा का स्तर आदि कारकों को भी शामिल कर निर्धनता का मापदंड तय किया जा सकता है। वियतनाम में संचालित पर्वतीय ग्राम्य विकास कार्यक्रम (Mountain Rural Development Program: MRDP) इसी तरीके का इस्तेमाल किया गया था। (Davies and Krantz, 1999). लेकिन किसी क्षेत्र में निर्धनता हमेशा एकसमान रूप से मौजूद नहीं होती है। समुदाय इस तरह की समरूप सामूहिक सामाजिक इकाइयों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, जैसा कि विभिन्न विकास कार्यक्रमों में माना जाता है (Agrawal and Gibson 1999). हरेक समुदाय में कुछ लोग दूसरों के मुकाबले बेहतर स्थिति में होते हैं और बाहरी लोगों के लिये उन लोगों के सामाजिक–आर्थिक अंतर को स्पष्ट कर पाना मुश्किल होता है। समुदाय में ऐसे समृद्ध लोग भी निर्धन परिवारों के आसपास ही रहते हैं। निर्धनता को स्पष्ट करने का एक अन्य वैकल्पिक तरीका निम्न आय और खाद्यान्न अक्षमता भी है। यह विकल्प निर्धनों की और बेहतर पहचान का अवसर देते हैं, लेकिन अंतरसामुदायिक पहचान के लिये आय और अन्य मानकों से जुड़े ठोस आंकड़े जुटाना जरूरी होता है। इसमें हर परिवार की आय की जानकारी उपलब्ध होना आवश्यक है, जो अकसर उपलब्ध नहीं होती अथवा उसे जुटाना बेहद खर्चीला होता है। समृद्धि श्रेणी भी एक तकनीक है, जिसके जरिये समुदाय को अपने स्तर पर अनुभवों और समुदाय के विभिन्न परिवारों की स्थिति के जरिये निर्धनता या समृद्धि का पैमाना तय करने का अवसर दिया जा सकता है। यह मॉडल बाहरी सर्वे की जरूरत से बचाता है, लेकिन इसके लिये जरूरी है कि समुदाय के सदस्यों के सभी वर्गों को इसमें शामिल किया जाये, अन्यथा सामुदायिक अगुवाओं के परिणाम को प्रभावित करने की आशंका बनी रहती है। ऐसा करने से सामुदायिक वर्गीकरण बेहतर होगा और निर्धनता से संबंधित वास्तविक परिदृश्य मिल सकेगा। बाहरी मानकों के आधार पर यह आशंका रहती है कि या तो पूरे समुदाय को ही निर्धन मान लिया जाता है या फिर पूरे समुदाय को समृद्ध मान लिया जाता है। सतत आजीविका का कोई भी मॉडल निर्धनों की पहचान के इस मसले का समाधान नहीं सुझाता है, जबकि यही पहलू सबसे महत्वपूर्ण है। डीएफआईडी के दृष्टिकोण में तो यह स्पष्ट कहा गया है कि निर्धन कौन हैं और कौन से कारण निर्धनता की वजह हैं, इसका पूर्वनिर्धारण नहीं किया जाना चाहिये।

डीएफआईडी का मत है कि आजीविका विश्लेषण के बाद ही इस दिशा में किसी परिणाम की ओर बढ़ना चाहिये। लेकिन, इस प्रक्रिया में सिद्धांत के हर उपक्रम को एकसाथ लागू करना आवश्यक हो जायेगा यानी सामाजिक विश्लेषण के दौरान निर्धनता मूल्यांकन, लिंगभेद मूल्यांकन, हितधारकों का मूल्यांकन, सांस्थानिक मूल्यांकन और कई अन्य पहलुओं (जो सतत आजीविका सिद्धांत की निर्दिष्ट हैं) का समग्र व समन्वित विश्लेषण जरूरी होगा। यह सबसे बेहतर दृष्टिकोण होगा, क्योंकि निर्धनता ऐसा घटनाक्रम है जो बदलता रहता है। ऐसे में यह आवश्यक होगा कि सबसे पहले किसी क्षेत्र की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक

स्थितियों के बारे में बुनियादी जानकारी हासिल कर ली जाये, फिर धीरे–धीरे परिस्थितियों के विश्लेषण के जरिये निश्चित परिणाम पाया जा सकता है। लेकिन, यह पूरी प्रक्रिया बेहद खर्चीली होगी, क्योंकि शोधकर्ताओं को अध्ययन क्षेत्र में लंबे समय तक रहना होगा और शोध के लिये जरूरी कई तरह की सुविधाएं भी जुटानी होंगी, ताकि सैकड़ों लोगों तक पहुंचा जा सके। डीएफआईडी इस समस्या को समझता तो है, लेकिन इसका कोई बेहतर समाधान नहीं निकाल पाता।

निर्धनता के सामाजिक संबंध (The Social Relations of Poverty)

स्थानीय स्तर पर असमानता और शक्ति व्यवस्था का वितरण निर्धनता का कारक बनते हैं। डीएफआईडी का सिद्धांत आजीविका में बदलाव करने की क्षमता रखने वाली प्रक्रियाओं और ढांचे को लागू करने पर जोर देता है, जिसमें निर्धन वर्ग को बेहतर अवसर उपलब्ध कराये जा सकें (DFID, 1999). लेकिन यह प्रक्रिया बेहद जटिल होती है, क्योंकि आजीविका संबंधी संसाधनों तक पहुंच और उपलब्धता को प्रभावित करने वाला सामाजिक प्रभुत्व और समुदायों के बीच शक्ति वितरण का ढांचा अनौपचारिक होता है। बाहरी लोगों के लिये अकसर अदृश्य रहता है। मानव वैज्ञानिक डेविड मॉजे (David Mosse) तर्क देते हैं कि इस सन्दर्भ में आंकड़े जुटाने के लिये प्रचलित सहभागिता ग्राम्य मूल्यांकन (Participatory Rural Appraisal: PRA) उचित साधन नहीं है, क्योंकि इसमें सार्वजनिक चर्चा अपरिहार्य होती है और अकसर लोग समुदाय के भीतर शक्ति, प्रभुत्व, सत्ता जैसे संवेदनशील विषयों पर चर्चा करने से बचते हैं। इसके अलावा इस तरह के प्रयासों में अकसर सामुदायिक अगुवा ही भाग लेते हैं, जो स्वयं स्थानीय अभिजात्य वर्ग से आते हैं, जिसके चलते परिणाम प्रभावी नहीं मिल पाता (Mosse 1994). यूएनडीपी और केयर, दोनों के सिद्धांत इस मसले का समाधान नहीं सुझाते। डीएफआईडी के सिद्धांत में शक्ति संबधों को परिवर्तन प्रक्रिया का एक पहलू माना गया है जो संस्कृति और संस्थान से गहराई से जुड़ा होता है। अंतर्सामुदायिक संबंधों के विश्लेषण के लिये इस आयाम का अन्य पहलुओं के साथ समन्वित विश्लेषण आवश्यक है।

लैंगिक पहलू (Gender Aspects)

शक्तियों और संसाधनों के वितरण में असमानता का यह भाव किसी समुदाय में पुरुषों और महिलाओं के बीच भी देखा जा सकता है। तीनों ही दृष्टिकोणों (यूएनडीपी, डीएफआईडी और केयर) ने इस पहलू को समझा है। यूएनडीपी ने तो हाल में एक शोध के बाद 'Five Steps Procedure' की अवधारणा दी है, जिसका मकसद कार्यक्रम नियोजन को लैंगिक दृष्टि से संवेदनशील बनाना है। केयर आजीविका मूल्यांकन विश्लेषण के दौरान इस बात का ध्यान रखता है कि जो भी आंकड़े जुटाये जा रहे हैं, वे महिला–पुरुषों के लिहाज से अलग–अलग व्यवस्थित तरीके से जुटाये जायें। वहीं, डीएफआईडी का कार्यढांचा उपेक्षित समूहों, विशेषकर महिलाओं की ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत जताता है। डीएफआईडी यह जोर देता है कि सतत आजीविका विश्लेषण के दौरान विशेष लैंगिक विश्लेषण भी किया जाना चाहिये। इस लिहाज से देखें तो लैंगिक पहलू ही वह पहलू है, जिसे तीनों सिद्धांतों में स्थान मिला है। यहां यह सुनिश्चित किया जाता है कि लैंगिक पहलू सैद्धान्तिक प्रक्रिया में स्पष्ट रूप से शामिल हो रहा है, इसके साथ ही यह भी ध्यान रखा जाता है कि महिलाओं को आजीविका के संबंध में अपने अनुभवों, रुचियों और जरूरतों को बताने का भरपूर अवसर मिल सके। महिलाओं की सहभागिता बढ़ाने के लिये भी प्रयास किये जाते हैं।

सहभागिता ग्राम्य मूल्यांकन (Participatory Rural Appraisal: PRA) से महिलाओं को प्रतिनिधित्व के मौके भी मिले हैं। लेकिन यहां समस्या यह पैदा होती है कि इन सभी प्रयासों को इस तरह समन्वित किया जाता है कि वे तात्कालिक परिस्थितियों, समय और महिलाओं की व्यावहारिक बाधाओं से जूझ नहीं पातीं। यह पहलू भी दिक्कत खड़ी करता है कि इस तरह के कार्यक्रमों में विशिष्ट सामुदायिक ज्ञान, जानकारियों की जरूरत होती है और ऐसी अधिकतर जानकारी सामाजिक परिस्थितियों के कारण पुरुषों द्वारा ही उपलब्ध हो पाती हैं, महिलाओं द्वारा नहीं (Mosse, 1994). यही नहीं, मूल्यांकन प्रक्रिया में अकसर संबंधित महिलाओं से निरंतर संवाद या महत्वपूर्ण प्रतिक्रियाएं लेने का पर्याप्त समय नहीं मिल पाता, जो महिलाओं के अपनी भावनाएं व्यक्त करने के लिये अत्यावश्यक है (Humble, 1998). दुर्भाग्य से तीनों ही सतत आजीविका दृष्टिकोणों में इस समस्या का समाधान नहीं सुझाया गया है। एक अन्य पहलू यह है कि सतत आजीविका दृष्टिकोण में परिवार को विश्लेषण की बुनियादी इकाई माना जाता है। ऐसे में अधिक ध्यान इस पर रहता है कि संपत्तियों को विभिन्न श्रेणियों के परिवार किस तरह इस्तेमाल करते हैं। इसमें उपेक्षित, बाजार, संगठन, नीतियां, शासन आदि पहलू जुड़ जाते हैं। वास्तव में आजीविका की अवधारणा ही मुख्यतः परिवारों की निर्णय क्षमता पर आधारित है, क्योंकि विभिन्न आर्थिक गतिविधियां भी इससे जुड़ती हैं। लेकिन, यहां यह बात उभरती है कि परिवारों की आंतरिक व्यवस्था में आर्थिक नियंत्रण, अवसर और निर्णय लेने की क्षमता भी अकसर लैंगिक आधार पर ही तय होती है। किन्तु इस पहलू पर अधिक ध्यान दिया नहीं जाता है। ऐसी स्थिति में निर्धन वर्ग में महिलाएं तभी सामने आ सकती हैं, जब वे अपने परिवार की मुखिया हों, उपेक्षित न हों और आर्थिक रूप से समृद्ध परिवारों की सदस्य हों। डीएफआईडी की गाइडलाइन में माना गया है कि विश्लेषण के लिये सिर्फ परिवार को इकाई मानना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके लिये इसे महिला, पुरुष और अन्य आयुवर्गों में बांटना आवश्यक है।

6.6: कार्यक्रम नियोजन की वास्तविकता एवं क्षेत्रीय पूर्वाग्रह (The Reality of Programme Planning and Sectoral Biases)

सतत आजीविका दृष्टिकोण का बुनियादी विचार निर्धन वर्ग की मौजूदा आजीविका की बाधाओं का विश्लेषण करना है। इसके साथ ही उन प्रासंगिक और प्रभावी बिन्दुओं, स्वतंत्र क्षेत्रों और गतिविधियों के स्तर की पहचान करना भी है, जहां से किसी समुदाय में प्रवेश संभव हो सकता है। इसके लिये बेहद लचीले नियोजन की आवश्यकता होती है, लेकिन वस्तुतः यह अवास्तविक होता है। विकास परियोजनाओं या कार्यक्रमों की शुरुआत कई बार कोरे कागज की तरह होती है, जो बाद में किसी क्षेत्र विशेष के समर्थन में आकर लेता है। वैकल्पिक रूप से रणनीतिक प्राथमिकताओं और संबंधित देश द्वारा विकसित क्षेत्रवार योजनाओं के आधार पर इसे आकार दिया जाता है, लेकिन इससे सेवाप्रदाता का अधिकतर मुद्दों और क्षेत्रों तक पहुंचना या गतिविधियां संचालित कर पाना कठिन होता है। इसके अलावा अधिकतर सेवाप्रदाता एजेंसियां और शासन अकसर क्षेत्रवार गठित होते हैं और उनकी नियोजन प्रक्रिया भी अकसर सेवाप्रदाताओं या संबंधित मंत्रालय की ओर से पूर्वाग्रहग्रस्त नजर आती हैं।

पिछले सतत आजीविका विश्लेषण के अनुभवों के संबंध में कुछ समय पूर्व आयोजित डीएफआईडी की एक बैठक में यह बात उभरी कि दो पहलुओं के साथ व्यावहारिक समाधान निकालने की आवश्यकता है। पहला, यह सुनिश्चित करना कि पहले से चिह्नित अथवा निर्धारित क्षेत्रों में उठाये जाने वाले विकास के कदम वहां के लोगों की आजीविका रणनीतियों के लिये उचित हैं या नहीं और इन्हें निर्धन वर्ग के सामने आने वाली बाधाओं को दूर करने, बेहतर अवसर देने के लिये और बेहतर बनाने की कोशिश। दूसरा, परियोजना चक्र

प्रक्रिया का पुनर्संचालन किया जाना चाहिये, ताकि लोग इसे अच्छी तरह समझ सकें और स्वयं को सतत आजीविका के लिये सक्षम बना सकें। प्रक्रिया की निरंतर निगरानी की भी जरूरत है, जिससे यह पता चल सके कि लोगों की आजीविका में वास्तव में क्या परिवर्तन आये और यह भी मालूम किया जा सके कि परियोजना संचालन का कितना लक्ष्य हासिल किया जा सका। डीएफआईडी का अनुभव बताता है कि सतत आजीविका दृष्टिकोण एवं सिद्धान्त को विकास सहयोगी कार्यक्रमों में आसानी से लागू किया जा सकता है। हालांकि, यहां हम इस पर अधिक चर्चा नहीं करेंगे, लेकिन नीति संवाद इसका एक उदाहरण है। इसमें सतत आजीविका दृष्टिकोण एक आम कार्यढांचा तय कर सकता है, जिसके तहत विभिन्न क्षेत्रों के नीतिनिर्माताओं के बीच संवाद और विमर्श की स्थिति का अवसर दिया जा सकता है।

6.7: क्षमता आवश्यकताएं एवं दाता के प्रभाव का जोखिम (Capacity Requirements and Risk of Donor Dominance)

विश्लेषण क्षमता और सूचना–जानकारियों की आवश्यकता के लिहाज से सतत आजीविका दृष्टिकोण की मांग है। डीएफआईडी और अन्य संस्थाओं ने भी इसकी अहमियत को समझा है, जिसके चलते आंकड़ों के संग्रहण को सीमित करते हुये जरूरत अथवा किसी सहयोगी संस्था की क्षमता के अनुरूप ही उपयोग पर जोर दिया जाता है। चूंकि, सतत आजीविका दृष्टिकोण किसी स्थानीय विकास प्रशासन की व्यावहारिक वास्तविकताओं से आगे का विषय हो सकता है। ऐसे में यह भी संभव है कि स्थानीय समकक्ष संस्थान की ओर से बेहतर ढंग से काम करने के लिये आवश्यक कर्मचारी ही उपलब्ध नहीं कराये जायें (ऐसा होने की संभावना विशेषकर तब रहती है, जब समकक्ष संस्थान सरकारी हो)। दूसरा पहलू यह है कि उपलब्ध कराये गये कर्मचारी इस स्थिति में नहीं हों कि दृष्टिकोण का सकारात्मक और विकासपरक उपयोग कर सकें। इसकी मुख्य वजह यह होती है कि अकसर उन्होंने पर्याप्त विश्लेषण नहीं किया होता है अथवा वे निर्धनता व आजीविका को गहराई से नहीं समझ पा रहे हों।

यहां यह भी जोखिम बना रहता है कि यह दृष्टिकोण महज दाताओं और सलाहकारों का क्षेत्र ही बनकर न रह जाये अथवा कुछ ऐसे ही कार्यक्रम संचालित कर सके, जो प्रदाताओं की मदद से चल रहे हों। इससे निपटने के लिये यह जरूरी है कि समकक्ष संस्था के कर्मचारी शुरुआती विमर्श प्रक्रिया से ही समन्वित कर लिये जायें। इसके लिये उन्हें सतत आजीविका दृष्टिकोण और इसे लागू किये जाने का प्रशिक्षण भी दिया जा सकता है। इसके अलावा यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि बिल्कुल नयी व्यवस्था को लागू करने के बजाय मौजूदा कार्यक्रमों और प्रक्रियाओं को ही दृष्टिकोण के अनुरूप धीरे–धीर ढालने की दिशा में काम किया जाये।

6.8: अभ्यास प्रष्न (Model Questions)

- क्या सतत आजीविका दृष्टिकोण निर्धनता उन्मूलन की दिशा में प्रासंगिक और अधिक प्रभावी है?
- गतिविधियों के संचालन और इनके प्रारूप को तय करने में किस तरह की दिक्कतें आती हैं?
- सतत आजीविका दृष्टिकोण की परिभाषाएं क्या हैं?
- केयर, डीएफआईडी और यूएनडीपी के लिये सतत आजीविका दृष्टिकोण किस तरह उपयोगी है। तीनों ने किस तरह अलग–अलग तरीके से इसका इस्तेमाल किया है?
- निर्धनता से क्या समझते हैं? आजीविका विश्लेषण में निर्धनता का क्या महत्व है?

6.9: सन्दर्भ (References)

- Agrawal, Arun and Clark C. Gibson. 'Enchantment and Disenchantment: The role of Community in Natural Resource Conservation'. World Development, Vol.27 No.4, 1999.
- Ashley, Caroline and Diana Carney. Sustainable livelihoods: Lessons from early experience. DFID, London, 1999
- Ashley, Caroline. Applying Livelihood Approaches to Natural Resource Management Initiatives: Experiences in Namibia and Kenya. ODI Working Paper 134, ODI, London, 2000.
- Brock, Karen. Implementing a Sustainable Livelihoods Framework for Policy-Directed Research: Reflections from practice in Mali. IDS Working Paper 90, IDS, Brighton, UK, June 1999.
- Carney, Diana et al. Livelihoods Approaches Compared. DFID, London, November 1999.
- Carney, Diana. 'Implementing the Sustainable Rural Livelihoods Approach' in D. Carney (ed) Sustainable Rural Livelihoods: What contributions can we make? DFID, London, 1998.
- Carney, Diana. Approaches to Sustainable Livelihoods for the Rural Poor. ODI Poverty Briefing No.2, ODI, London, 1999.
- Chambers, Robert and Gordon Conway. Sustainable Rural Livelihoods: Practical concepts for the 21st Century. IDS Discussion Paper 296, IDS, Brighton, UK, February 1992.
- Chambers, Robert. Poverty and Livelihoods: Whose Reality Counts? IDS Discussion Paper 347, IDS, Brighton, UK, January 1995.
- Davies, Rick and Lasse Krantz. A Study of Perceptions and Responses to Poverty within The Vietnam-Sweden Mountain Rural Development Programme. Report prepared for Sida, Cambridge and Göteborg, August 1999.
- DFID. Sustainable Livelihoods and Poverty Elimination: Background Briefing. November 1999 (www.ids.ac.uk/livelihoods.html).
- DFID. Sustainable Livelihoods Guidance Sheets. DFID, London, 1999. Drinkwater, Michael and Tamara Rusinow. Application of CARE's Livelihoods Approach: Presentation for NRAC' 99. Mimeo.
- Ellis, Frank. Rural Livelihood Diversity in Developing Countries: Evidence and Policy Implications. ODI Natural Resource Perspectives No.40, ODI, London,1999.
- FAO. Inter-agency Experiences and Lessons: From the forum on operationalizing sustainable livelihoods approaches. Pontignano (Siena) 7-11 March 2000. (www.fao.org/docrep/x7749e/x7749e00.htm)
- Farrington, John et al. Sustainable Livelihoods in Practice: Early applications of concepts in rural areas. Natural Resource Perspectives No.42, ODI, London, June 1999.
- Forsyth, Tim and Melissa Leach. Poverty and Environment: Priorities for Research and Policy. Mimeo, 1998.
- Frankenberger, Timothy R., Michael Drinkwater, and Daniel Maxwell. Operationalizing Household Livelihood Security: A Holistic Approach for Addressing Poverty and Vulnerability, CARE, January 2000 (mimeo).
- Holland, Jeremy and James Blackburn. Whose Voice? Participatory Research and Policy Change. IT Publications, London, 1998.

- Humble, Morag. 'Assessing PRA for Implementing Gender and Development', in Irene Guijt and Meera Kaul Shua (eds) The Myth of Community: Gender issues in participatory development. IT Publications, London, 1998.
- Hussein, Karen and John Nelson. Sustainable Livelihoods and Livelihood Diversification. IDS Working Paper 69, IDS, Brighton, UK, 1998.
- Leach, Melissa et al. 'Environmental Entitlements: Dynamics and Institutions in Community-Based Natural Resource Management', World Development, 1999.
- Mosse, David. 'Authority, Gender and Knowledge: Theoretical reflections on the practice of participatory rural appraisal', Development and Change Vol.25, 1994.
- Mosse, David. 'Local Institutions and Power: The history and practice of community management of tank irrigation systems in South India', in Nici Nelson and Susan Wright (eds) Power and Participatory Development: Theory and Practice. IT Publications, London, 1995.
- MRDP. Lao Cai Province Participatory Poverty Assessment. MRDP, Hanoi, 1999. Scoones, Ian. Sustainable Rural Livelihoods: A framework for analysis. IDS, Working Paper 72, IDS, Brighton, UK, June 1998.
- Turton, Cathryn. Sustainable Livelihoods and Project Design in India. ODI Working Paper 127, ODI, London, 2000.
- Turton, Cathryn. The Sustainable Livelihoods Approach and Programme Development in Cambodia. ODI Working Paper 130, ODI, London, 2000.
- UNDP. Promoting Sustainable Livelihoods: A briefing note submitted to the Executive Committee. June, 1997 (mimeo).
- UNDP. Sustainable Livelihoods Concept Paper (www.undp.org/sl.htm) UNDP. Sustainable Livelihoods: Lessons learned from global programme experience (www.undp.org/sl.htm).
- UNDP. Participatory Assessment and Planning for Sustainable Livelihoods (www.undp.org/sl.htm).
- UNDP. Governance for Sustainable Livelihoods: Operational Issues (www.undp.org/sl.htm).
- UNDP. Sustainable Livelihoods Approaches in Operations: A Gender Perspective (www.undp.org/sl.htm).
- UNDP. Policy Analysis and Formulation for Sustainable Livelihoods (www.undp.org/sl.htm).

इकाई 7

सतत विकास और स्थानीय समुदायों के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन और ढांचे

International Conventions and Frameworks of Sustainable Development and Local Communities

7.1 परिचय (Introduction)
7.2. सतत विकास का उभार (The Emergence of Sustainable Development)
7.3. स्थानीय समुदाय के लिये पर्यावरण एवं विकास की चुनौतियां (The Challenges of Environment and Development Faced by Local Communities)
7.4. सतत विकास के प्रति रणनीतिक दृष्टिकोण (Strategic Approach to Sustainable Development)
7.5. भारत में सतत विकास (Sustainable Development in India)
7.6. निष्कर्ष (Conclusion)

7.1: परिचय (Introduction)

सतत विकास संयुक्त राष्ट्र के व्यापक लक्ष्यों में शामिल है। सतत विकास की अवधारणा का विकास 1987 में ब्रटलैंड कमीशन रिपोर्ट में हुआ था, जिसमें इसे, 'ऐसा विकास जो वर्तमान की जरूरतों की इस तरह पूर्ति करे कि भावी पीढ़ियों की जरूरतों की पूर्ति में दिक्कतें पेश नहीं आयें', बताया गया। सतत विकास के चार आयाम हैं– समाज, पर्यावरण, संस्कृति और अर्थव्यवस्था, जो परस्पर जुड़े हुये हैं। सततता वस्तुतः एक उदाहरण है, जिसमें माना जाता है कि पर्यावरणीय, सामाजिक, आर्थिक आवश्यकताओं का संतुलन बना रहता है जो जीवन की गुणवत्ता में सुधार करता है। उदाहरण के लिये एक समृद्ध समाज भोजन, स्वच्छ पेयजल, शुद्ध हवा एवं अन्य संसाधनों के लिये स्वस्थ पर्यावरण पर निर्भर करता है।

बीते 30 वर्षों में काफी तेजी से और अभूतपूर्व विकास हुआ है। विकासशील देशों में जीवन प्रत्याशा 20 वर्ष से अधिक बढ़ गयी है। शिशु मृत्युदर करीब आधी हो गयी है, जबकि प्राथमिक स्कूलों में दाखिले दोगुने हो चुके हैं। खाद्य उत्पादन और उपभोग में भी 20 प्रतिशत तक बढ़ोतरी दर्ज की गयी है। आयस्तर, स्वास्थ्य, शैक्षिक अवसरों में भी सुधार आया है, जिसने विकासशील देशों और औद्योगिक देशों के बीच के अंतर को काफी हद तक दूर किया है। शासन में लोकतंत्र और सहभागिता की ओर कदम बढ़ाया गया है, जबकि तकनीक और संचार की दिशा में भी काम हुआ है। संचार के नये तरीके राष्ट्रीय विकास प्रक्रियाओं में परस्पर सहयोग–सामंजस्य को बढ़ाने पर जोर दिया गया है, ताकि वैश्विक चुनौतियों का सामना किया जा सके। 1992 के 'अर्थ समिट' में विभिन्न देश इस बात पर सहमत हुये कि विकास सतत होना चाहिये। यानी देश सकारात्मक आर्थिक एवं सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करें और इस प्रक्रिया में पर्यावरण को किसी तरह का नुकसान नहीं पहुंचे। इसके साथ ही यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहिये कि इन दोनों लक्ष्यों को प्राप्त करने के दौरान यह बिन्दु ध्यान में रहे कि भावी पीढ़ियों के अधिकार और अवसर सुनिश्चित रहें।

7.2: सतत विकास का उभार (Emergence of Sustainable development)

सतत विकास की अवधारणा को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर औपचारिक पहचान वर्ष 1992 में रियो डी जेनेरियो, ब्राजील में यूनाइटेड नेशन्स कांफ्रेंस ऑन इन्वायर्नमेंट एंड डेवलपमेंट (UNCED) में मिली। हालांकि, इसकी बुनियाद 1950–1960 से ही पड़ गयी थी, जब विकसित देशों में त्वरित औद्योगिक विकास के कारण पर्यावरण को हो रहे नुकसान की चिन्ता और जागरूकता उभरी। 1952–53 में लंदन में धुंध (London Smog) की घटना ने प्रदूषण के खतरों को स्पष्ट किया। रशेल कार्सन ने 1962 में अपनी पुस्तक 'साइलेंट स्प्रिंग' में औद्योगिक गतिविधियों के नकारात्मक प्रभावों की ओर लोगों का ध्यान खींचा। यूनाइटेड किंगडम और यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका के बाहर अन्य विकसित क्षेत्रों में भी इसी तरह की पर्यावरणीय जागरूकता इसी दौर में उभर रही थी। जापान में मिनामाता रोग (मिनामाता शहर में मरकरी की वजह से फैला रोग) ने भारी औद्योगिक विकास के खतरनाक पहलू को सामने रखा। लगातार सामने आ रही समस्याओं और जनता की परेशानियों को ध्यान में रखते हुये अमेरिका में एक जनवरी 1970 को कांग्रेस ने विशेष कानून नेशनल इन्वायर्नमेंट पॉलिसी एक्ट (NEPA) लागू किया। नेपा का लक्ष्य संघीय शासन–प्रशासन को पर्यावरणीय प्रभावों और कार्यों के प्रति जिम्मेदार बनाना था। अब तक दुनियाभर के सौ से अधिक देशों में पर्यावरणीय प्रभावों के मूल्यांकन के लिये इसी तरह की व्यवस्था और प्रक्रिया अपनायी जा चुकी है। इसके करीब 20 साल बाद सतत विकास की ब्रटलैंड अवधारणा में भी पर्यावरण और विकास में संतुलन पर जोर दिया गया।

स्टॉकहोम कान्फ्रेंस (Stockholm Conference, 1972)

औद्योगिक राष्ट्रों में सामने आयी पर्यावरणीय दिक्कतों और इस पहलू के उभरने पर कि ये समस्याएं देशों की सीमाओं के भीतर ही सीमित नहीं हैं, संयुक्त राष्ट्र ने 1972 में स्टॉकहोम में मानवीय पर्यावरण पर सम्मेलन का आयोजन किया। सम्मेलन में पारिस्थितिकी एकीकरण, जैविक जैवविविधता, मानव स्वास्थ्य और विकास के लिये पारिस्थितिकी एवं संसाधनों की सीमा जैसे मुद्दों को प्रमुखता से रखा गया। सम्मेलन में जहरीले पदार्थों की वजह से सामने आ रही समस्याओं पर विमर्श किया गया, लेकिन इस चिंतन का लक्ष्य 70 के दशक में सिर्फ राष्ट्रीय स्तर की नीतियों और प्रावधानों पर ही रहा। 70 के दशक के अंत तक ओजोन परत को नुकसान और ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन से उभरी दिक्कतों को लेकर अंतर्राष्ट्रीय सामुदायिक विमर्श प्रारंभ हुआ। 1980 तक ओजोन परत को नुकसान से बचाने के लिये और 1990 तक वैश्विक जलवायु परिवर्तन को लेकर कदम बढ़ाने की शुरुआत हुयी।

स्टॉकहोम सम्मेलन को दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं के लिये जाना जाता है। पहला यह कि इसने सभी देशों में राष्ट्रीय पर्यावरण नीतियों के अनिवार्य रूप से निर्माण की जरूरत जतायी और दूसरा यह कि इस सम्मेलन के जरिये वैश्विक समुदाय को सतत जीवन में स्वस्थ जैवविविधता के महत्व व पोषक भूमिका के बारे में जानकारी दी गयी और पर्यावरण के लिये इनके संरक्षण की जरूरत जतायी गयी। स्टॉकहोम सम्मेलन ही यूनाइटेड नेशन्स इन्वायर्नमेंट प्रोग्राम (UNEP) की स्थापना की बुनियाद बना, जिसने संयुक्त राष्ट्र को स्टॉकहोम एक्शन प्लान के सुझावों को लागू करवाने और समन्वय के लिये सांस्थानिक क्षमता प्रदान की। यद्यपि स्टॉकहोम सम्मेलन और इसके सुझावों ने पर्यावरण की दिशा में चिंतन को और बढ़ाया, लेकिन कई विशेषज्ञ मानते हैं कि सम्मेलन से पूर्व की गयी विवेचनाओं और विभिन्न लेखों, साहित्य के जरिये प्रस्तुत की

गयी इसकी उत्प्रेरक की भूमिका ने इसे और प्रभावशाली बनाया, जिसके जरिये प्राकृतिक पर्यावरण को लेकर वैश्विक जागरूकता बढ़ी।

विश्व संरक्षण रणनीति (World Conservation Strategy 1980)

इंटरनेशनल यूनियन फॉर कन्जर्वेशन ऑफ नेचर एंड नेचुरल रिसोर्सेज (IUCN, 1980) और वर्ल्ड कन्जर्वेशन स्ट्रेटेजी (WCS) को सतत विकास की बुनियाद माना जाता है। WCS विकास प्रक्रिया में पर्यावरण संरक्षण को लेकर दशकों तक चले वैश्विक, सामुदायिक विमर्श का संकलन है। WCS में विकास को समझाने के लिये सतत शब्द का प्रयोग किया गया, जिसका अर्थ सजीव व निर्जीव संसाधनों के आधार के सामाजिक, आर्थिक, पारिस्थितिक कारकों तथा वैकल्पिक क्रियाओं के लाभ–हानि के जरिये विकास को तय करना था। WCS का सुझाव था कि आर्थिक और सामाजिक विकास को एकसाथ होना चाहिये, ताकि सजीव संसाधनों का संरक्षण और सतत विकास हो सके। हालांकि, WCS विकास और पर्यावरण की चिंताओं को पूरी तरह एकीकृत नहीं कर सका, लेकिन इसकी सतत विकास अवधारणा ने वर्ल्ड कमीशन ऑफ इन्वायर्नमेंट एंड डेवलपमेंट (WCED) की रिपोर्ट तैयार करने में मदद की, जिसके जरिये 1992 की यूएन कान्फ्रेंस में भविष्य के मुद्दों को समझने और एकीकृत करने का विचार उभरकर आया।

नैरोबी बैठक (Nairobi Meeting 1982)

स्टॉकहोम सम्मेलन के दस साल बाद संयुक्त राष्ट्र ने नैरोबी में बैठक की, जिसमें स्टॉकहोम एक्शन प्लान की प्रगति और UNEP के लिये पर्यावरणीय मसलों पर भावी सुझाव दिये गये। सम्मेलन से पहले यूएनईपी की ओर से तैयार की गयीं रिपोर्ट और नैरोबी घोषणाओं से यह स्पष्ट संदेश दिया गया कि कई राष्ट्रों में पर्यावरण संरक्षण की दिशा में बेहतर काम हुआ है, लेकिन यह कार्य पर्यावरण को अब तक हो चुके नुकसान को वापस लौटा पाने में सक्षम नहीं थे। नैरोबी बैठक में विकासशील देशों में स्वास्थ्य, जनकल्याण और पर्यावरण संरक्षण में आर्थिक विकास की भूमिका को भी उभारा गया। इसकी वजह यह थी कि पर्यावरणीय समस्याएं विकासशील देशों के लिये चुनौती बने हुये थे। निर्धनता को पर्यावरणीय नुकसान का अहम कारक मानते हुये आर्थिक विकास को महत्वपूर्ण माना गया, क्योंकि यह तर्क दिया गया कि निर्धनता उन्मूलन का एकमात्र माध्यम यही है। लेकिन आर्थिक विकास का एकमात्र रास्ता पारंपरिक विकास का था। यानी ऐसी तकनीकों पर निर्भरता, जो गैर नवीकरणीय संसाधनों पर आधारित हों और जिनके कारण मानव स्वास्थ्य व पारिस्थितिकी को नुकसान पहुंचाने वाला प्रदूषण उत्पन्न होता है। स्पष्ट था कि यह विकासशील देशों के लिहाज से विरोधाभासी था। इसी विरोधाभास के कारण विकास और पर्यावरण संरक्षण के एकीकरण की आवश्यकता महसूस हुयी।

पर्यावरण और विकास पर विश्व आयोग (The World Commission on Environment and Development)

इस बिन्दु को ध्यान में रखते हुये कि दुनियाभर में पर्यावरणीय परिस्थितियों में लगातार नुकसान हो रहा है, जबकि आबादी और आर्थिक विकास लगातार बढ़ रहे हैं, संयुक्त राष्ट्र महासभा ने पर्यावरण के मुद्दे पर विशेष और स्वतंत्र आयोग गठित किया। इसका मकसद सतत विकास के लिये दीर्घकालिक पर्यावरणीय रणनीति तैयार करने के साथ विकसित और विकासशील देशों, लोगों, संसाधनों, पर्यावरण और विकास में

अंतर्संबंध स्थापित करना था। संक्षेप में कहें तो आयोग का लक्ष्य विकास की नयी दृष्टि को विकसित करना था। इसके कुछ समय बाद ही नॉर्वे के पूर्व प्रधानमंत्री ग्रो हार्लम ब्रंटलैंड की अध्यक्षता में वर्ल्ड कमीशन ऑन इन्वायर्नमेंट एंड डेवलपमेंट (WCED, जिसे ब्रंटलैंड कमीशन के नाम से भी जाना जाता है) का भी गठन किया गया, जिसकी पहली बैठक अक्टूबर 1984 में स्विट्जरलैंड के जेनेवा में हुयी। 1984 से 1987 के बीच ने दुनियाभर से हजारों लोगों, संस्थाओं और संगठनों से सुझाव, परामर्श, समर्थन हासिल किया। कमीशन ने पर्यावरण और विकास के मुद्दों पर प्रत्यक्ष अनुभव के लिये दुनिया के कई हिस्सों की यात्रा की। 11 दिसंबर 1987 को आयोग के 'वर्ष 2000 और भविष्य के लिये पर्यावरण दृष्टिकोण' को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने अवधारित किया, इसी साल 'Our Common Future' नाम से आयोग की रिपोर्ट भी प्रकाशित हुयी। सतत विकास के मसले पर करीब एक दशक तक बहस, विमर्श को बढ़ावा देते हुये ब्रंटलैंड ने पर्यावरणीय सुरक्षा के साथ सामाजिक और आर्थिक विकास को प्रभावी रूप से एकीकृत करने की दिशा में प्रयास किये। इन तत्वों को एकसाथ रखते हुये आयोग ने जो संरचना स्पष्ट की, उसे सतत विकास की सबसे प्रभावी परिभाषा माना जाता है। ब्रंटलैंड आयोग ने सतत विकास को माध्यम से अधिक नीतिपरक तत्व मानते हुये इसके लिये उच्च राजनीतिक कार्यवृत्त के तौर पर रखा। 'Our Common Future' रिपोर्ट उस वक्त आयी थी, जब राजनीतिक परिदृश्य इस रिपोर्ट में उठाये गये मसलों को लेकर अधिक ग्राही बन रहा था। औद्योगिक देश आर्थिक विकास के लिहाज से इसे सकारात्मक रूप में देख रहे थे, जबकि वैश्विक पारिस्थितिकी में तनाव और नुकसान के संकेत भी नजर आने लगे थे। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समुदायों में यह जानने की ललक थी कि पारिस्थितिकी पर से दबाव घटाने के साथ आर्थिक विकास कैसे किया जाये। कमीशन के विज्ञान और तकनीकी सुझावों के साथ मानवीय जरूरतों और पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान संभव था। आर्थिक विकास में तकनीकी सुधारों और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण को प्रोत्साहन देते हुये कमीशन ने विकसित और विकासशील दोनों देशों का समर्थन हासिल किया। विकास कार्यों में तकनीक और विज्ञान को स्पष्ट रूप से मिश्रित कर ब्रंटलैंड कमीशन ने आर्थिक विकास के ऐसे नये दौर का विकास किया, जो पर्यावरणीय मानकों को लेकर सजग था।

रियो समिट 1992 (The Rio Summit: 1992)

विश्व के साझा भविष्य की चिंताओं के साथ संयुक्त राष्ट्र महासभा ने वर्ष 1992 में ब्राजील के रियो डि जेनेरियो में यूनाइटेड नेशन्स कांफ्रेंस ऑन इन्वायर्नमेंट एंड डेवलपमेंट का आयोजन किया, जिसे रियो समिट के नाम से भी जाना जाता है। कांफ्रेंस में 178 देशों के प्रतिनिधि शामिल हुये, जिनमें 110 देशों के राष्ट्रप्रमुख भी थे। इस लिहाज से यह अपनी तरह का पहला सम्मेलन था। सम्मेलन ने सतत विकास के विचार को आकार देने के लिये केन्द्रीय भूमिका के तौर पर दो अधिकृत अवधारणाएं– पर्यावरण एवं विकास की रियो घोषणा और एजेंडा 21 दी। रियो घोषणा में जहां सतत विकास की दृष्टि विकसित की, वहीं एजेंडा 21 ने इस लक्ष्य को पाने के लिये संयुक्त राष्ट्र, विभिन्न सरकारों, प्रमुख समूहों में समन्वय, संयुक्त एकीकृत योजना और कार्यशैली के तरीकों की जानकारी दी गयी। सम्मेलन में जलवायु परिवर्तन, जलवायु संबंधी नीतियों को लेकर अंतर्राष्ट्रीय कार्यढांचा और कानून भी तय किये गये। ब्रंटलैंड कमीशन की अवधारणाओं को आगे बढ़ाते हुये रियो घोषणा और एजेंडा 21 ने विकास के पुराने दृष्टिकोण को समाप्त करने के बजाय उन्हें पुनर्निर्धारित करने पर जोर दिया।

Table 1 Different conventions and conferences on a variety of issues concerned with sustainable development

Issue	Event	Place	Date	Website
Biodiversity	Convention on Biological Diversity (CBD)	Nairobi	22 May 1992	www.biodiv.org
Climate	United Nations Framework Convention on Climate Change (UNFCC)	New York	9 May 1992	www.unfcc.de/
Desertification	United Nations Convention to Combat Desertification in those Countries Experiencing Serious Drought and/or Desertification, Particularly in Africa (CCD)	Paris	17 June 1994	www.uncod.de/
Endangered species	Convention on International Trade in Endangered Species of Wild Fauna and Flora (CITES)	Washington	3 March 1973	www.wcmc.org.uk/cites/
Hazardous waste	Basel Convention on the Transboundary Movements of Hazardous Wastes and their Disposal (Basel)	Basel	22 March 1989	www.unep.ch/basel/index/html
Heritage	Convention Concerning the Protection of the World Cultural and Natural Heritage		23 November 1927	www.unesco.org/whc
Migratory species	Convention on the Conservation of Migratory Species of Wild Animals (CMS)	Bonn	23 June 1979	www.wcmc.org.uk.cms
Ozone	Vienna Convention for the Protection of the Ozone Layer	Vienna	22 March 1985	
	Montreal Protocol on Substances that Deplete the Ozone Layer	Montreal	16 September 1987	www.unep.org.org/ozone/
Sea	United Nations Convention on the Law of the Sea (UNCLOS)	Montego Bay	10 December 1982	www.un.org/depts/los/losconv1.htm
Wetlands	Convention on Wetlands of International Importance especially as Waterfowl Habitat (Ramsar Convention)	Ramsar	2 February 1971	www.ramsar.org/

1990 से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा प्रोत्साहित पारंपरिक विकास मॉडल में चार विषय समाविष्ट थे– 1. सुरक्षा और शांति, 2. आर्थिक विकास, 3. सामाजिक विकास और 4. शांति और विकास की रक्षा करने वाला राष्ट्रीय शासन (Dernbach 1998, 2004). ब्रंटलैंड कमीशन और रियो समिट ने पारंपरिक विकास मॉडल को पर्यावरणीय चिंताओं के साथ जोड़ने पर जोर दिया। रियो घोषणा के सिद्धांत 3 और 4 में इस लक्ष्य की जानकारी दी गयी है। **सिद्धांत 3:** विकास का अधिकार की पूर्ति वर्तमान और भविष्य के विकास और पर्यावरणीय जरूरतों के लिहाज से की जानी चाहिये। **सिद्धांत 4:** सतत विकास का लक्ष्य हासिल करने के लिये पर्यावरणीय संरक्षा को विकास प्रक्रियाओं के साथ एकीकृत किया जाना चाहिये। रियो घोषणा के

सिद्धांत 15 और 16 में संरक्षण और प्रदूषण फैलाने वाले बिंदुओं की जानकारी दी गयी है, जो सतत विकास नीतियों और कार्यक्रमों के मानक बिन्दु बन गये हैं। रियो घोषणा और एजेंडा 21 को सतत विकास की बुनियाद माना जाता है। सतत विकास को लेकर दो अन्य अहम दस्तावेज अर्थ चार्टर (अर्थ काउंसिल द्वारा प्रतिपादित) और यूएन मिलेनियम डिक्लेयरेशन हैं, जिनका प्रकाशन वर्ष 2000 में हुआ था। अर्थ समिट के अलावा 1990 में सतत विकास और इससे जुड़ी चुनौतियों को लेकर विभिन्न सम्मेलनों का आयोजन किया गया। (देखें Table 1)

जोहान्सबर्ग समिट 2002 (The 2002 Johannesburg Summit)

रियो समिट के बाद से हुयी प्रगति की समीक्षा के लिये वर्ष 2002 में जोहान्सबर्ग समिट आयोजित की गयी। रियो समिट के दस साल बाद दुनिया ने आर्थिक विकास के नये चरण का अनुभव किया, जो ऐसे विकास, उपभोग और जीवनशैली पर आधारित थे जो समृद्ध और गरीब देशों के बीच की खाई को पाटने का काम करे। जोहान्सबर्ग घोषणा में कहा गया, 'बाजारों के त्वरित एकीकरण, पूंजी की गतिशीलता और निवेश का बहाव दुनियाभर में बना रहता है जो सतत विकास की नयी चुनौतियों और अवसर खुलने की वजह बनता है।' सतत विकास के प्रति दृढ़निश्चय को बनाये रखने के लिये जोहान्सबर्ग ने विशेष रूप से विकसित देशों के लिये व्यापक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहमति बनाकर काम करने पर जोर दिया। जोहान्सबर्ग समिट के बाद अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने वैश्विक जलवायु परिवर्तन पर चिंता प्रारंभ की। वर्ष 2007 में नोबल पुरस्कार (शांति) प्राप्त अल गोर की डॉक्यूमेंट्री An Inconvenient Truth डॉक्यूमेंट्री के बाद विभिन्न सरकारों द्वारा जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त पैनलों का गठन किया गया, जिसस वैश्विक रूप से जागरूकता में बढ़ावा आया। इसी तरह 30 अक्टूबर 2006 को यूनाइटेड किंगडम ट्रेजरी ने Stern Review on the Economics of Climate Change का प्रकाशन किया। हालांकि, जलवायु परिवर्तन के आर्थिक विश्लेषण पर यह पहली रिपोर्ट नहीं थी, लेकिन इसे अपनी तरह की सर्वाधिक चर्चित और विस्तृत माना जाता है। वर्तमान में पर्यावरणीय चिंता के रूप में जलवायु परिवर्तन पर सर्वाधिक ध्यान देने का अर्थ यह है कि अन्य महत्वपूर्ण पर्यावरणीय और मानवीय स्वास्थ्य पहलुओं पर फोकस कम हो सकता है।

2012 यूनाइटेड नेशन्स कांफ्रेंस (The 2012 UN Conference on Sustainable Development)

रियो समिट के 20 साल बाद सतत विकास पर संयुक्त राष्ट्र का यह सम्मेलन रियो डि जेनेरियो में वर्ष 2012 में आयोजित हुआ, जिसे रियो+20 के नाम से भी जाना जाता है। सम्मेलन का प्रथम लक्ष्य सतत विकास को लेकर अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रयासों को पुनर्जीवित करना था। 50 हजार के करीब नीति निर्माताओं, पर्यावरणविदों और कारोबारियों ने सम्मेलन में प्रतिभाग किया, लेकिन एकल समन्वित कार्यढांचे पर सहमति नहीं बन पाने के कारण कई विशेषज्ञ इस सम्मेलन को विफल मानते हैं। हालांकि, इस सम्मेलन का एक सबसे बेहतर निष्कर्ष सतत विकास को आगे बढ़ाने के लिये लचीले तंत्र के तौर पर 'ग्रीन इकोनॉमी' का समर्थन था। सम्मेलन ने नीति निर्माताओं को 1992 रियो समिट में तय हुयी घोषणाओं की पुनः जानकारी देने और अब तक हुये कार्यों की समीक्षा का अवसर दिया। एक बार फिर यह स्पष्ट किया गया कि आर्थिक विकास का अर्थ पर्यावरण को नुकसान नहीं होना चाहिये।

यूनाइटेड नेषन्स एसडी समिट 2015 (UN Sustainable Development Summit 2015)

न्यू यॉर्क स्थित संयुक्त राष्ट्र मुख्यालयय में सतत विकास के मसले पर 25 सितंबर 2015 को संपन्न तीन दिवसीय सम्मेलन में 193 सदस्य देशों द्वारा वर्ष 2030 तक निर्धनता उन्मूलन का वैश्विक एजेंडा अवधारित किया गया। 17 बुनियादी लक्ष्यों के साथ नये ऐतिहासिक सतत विकास एजेंडा ने राष्ट्रीय कार्यनीतियों और अंतर्राष्ट्रीय समन्वय के नये युग का प्रारंभ किया। 150 से अधिक वैश्विक नेताओं से सम्मेलन को संबोधित किया और सतत विकास लक्ष्यों को सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों (Millennium Development Goals: MDG) के तौर पर विस्तार दिया गया। इन लक्ष्यों को वर्ष 2000 में स्वीकृति मिली थी, लेकिन वर्ष 2015 तक इनकी समयसीमा समाप्त हो चुकी थी, ऐसे में वर्ष 2015 से नये विकास एजेंडा को मंजूरी दी गयी, जिसके लिये वर्ष 2012 की रियो+20 सम्मेलन में सहमति बनी थी। इस लक्ष्य को "Transforming our World: The 2030 Agenda for Sustainable Development" नाम दिया गया, जिसमें 17 सतत विकास लक्ष्यों के साथ कुल 169 उद्देश्य निर्धारित हैं। इन लक्ष्यों का कार्यक्षेत्र विस्तृत है, क्योंकि ये सतत विकास से जुड़े अहम बिंदुओं– आर्थिक विकास, सामाजिक समन्वय, पर्यावरण संरक्षण आदि पर केन्द्रित हैं। इनके अलावा निर्धनता उन्मूलन, असमानता और अन्याय से संघर्ष और जलवायु परिवर्तन जैसे मसलों पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है।

7.3 स्थानीय समुदाय के लिये पर्यावरण एवं विकास की चुनौतियां (The Challenges of Environment and Development Faced by Local Communities)

उल्लेखनीय प्रगति के बावजूद कई बाधाएं और नकारात्मक पहलू भी सामने आते हैं। नकारात्मक पहलू (जटिल, गतिशील और संवाद में कठिन) चुनौतियों की एक विस्तृत श्रृंखला को सामने लाते हैं जो सभी देशों में राष्ट्रीय विकास (भले ही वहां आर्थिक विकास की दर कुछ भी हो) को प्रभावित करते हैं।

प्रवृत्तियां और मुख्य चुनौतियां (Trends and Manor Challenges)

नियमित वैश्विक मूल्यांकनों के जरिये कई ऐसी चुनौतियों और नकारात्मक प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया गया है, जिनसे पार पाना बेहद जरूरी है। विभिन्न रिपोर्टों में सतत विकास के लक्ष्य में दबाव बढ़ाने वाली और परस्पर संबंधित चुनौतियों की जानकारी दी गयी है।

- **आर्थिक असमानता और राजनीतिक अस्थायित्वः** बीते 20 सालों में अधिकतर देशों का आर्थिक विकास मजबूती से हुआ है, लेकिन कई देश अब भी ऐसे हैं जहां आर्थिक हानि और प्रति व्यक्ति आय में कमी आयी है। समृद्ध और निर्धन देशों के बीच आय और उनके द्वारा संचालित की जाने वाली मल्टीनेशनल कंपनियों की संख्या की यह असमानता निरंतर बढ़ती जाती है। इसका अर्थ यह है कि दुनियाभर की बड़ी आबादी, देशों और कॉरपोरेट्स, वैश्विक अर्थव्यवस्था व प्राकृतिक संसाधनों का नियंत्रण दुनिया के बहुत कम प्रतिशत लोगों द्वारा किया जाता है। यह पारंपरिक और अल्पसंख्यक वर्ग को शासन और आर्थिक अवसरों की उपलब्धता से उपेक्षित करने के साथ अस्थायित्व को बढ़ावा देता है। राजनीतिक अस्थायित्व कई बार विभिन्न देशों में हिंसक अंतर्विरोध की वजह बनता है जो सामाजिक–आर्थिक विकास की राह में बाधा बनता है।

- **अत्यन्त निर्धनता:** समृद्धि के इस दौर में भी विकासशील दुनिया में प्रति पांच में से एक व्यक्ति अत्यन्त निर्धनता से जूझ रहा है। वर्ष 1993 में 1.3 अरब से अधिक लोग प्रतिदिन एक डॉलर से भी कम पर जीवनयापन कर रहे थे। निर्धनता के सांथ जुड़ी कई सामाजिक समस्याएं भी कई देशों में लगातार बढ़ी हैं। इनमें रोगों की वृद्धि, परिवारों का वियोजन, स्थानिक अपराध और नशे–मादक द्रव्यों का बढ़ता प्रचलन शामिल हैं।

- **कुपोषण:** समग्र मानवीय पोषण के लिहाज से वर्तमान में वैश्विक खाद्य उत्पादन उपयुक्त नहीं है, लेकिन आर्थिक संसाधनों और भोजन के वितरण से जुड़ी समस्याओं का तात्पर्य यह है कि 8. करोड़ लोग कुपोषण का शिकार हैं। यद्यपि वैश्विक खाद्योत्पादन में बढ़ोतरी हो रही है, लेकिन विश्व आबादी को पर्याप्त भोजन उपलब्ध कराने में अब भी कई चुनौतियां बनी हुयी हैं। कई महत्वपूर्ण फसलों की उपज दर में गिरावट आ रही है। मिट्टी का क्षरण और अपमानक होना, सिंचाई का अभाव कृषि भूमि को नुकसान पहुंचाता है जिसने कई क्षेत्रों में फसलों को खतरे में डाल दिया है। सामान्य शब्दों में कहें तो संसाधनों की पर्याप्त क्षमता और कम प्रदूषणकारी कृषि माध्यमों को अपनाये बिना वैश्विक खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाना असंभव है। इसके लिये पर्यावरणीय बोझ को कम करना और सघन कृषिकार्य की आवश्यकता है।

- **बीमारियां:** एचआईवी–एड्स और मलेरिया ऐसी दो बीमारियां हैं जो वैश्विक चुनौती बनी हुयी हैं। एचआईवी शिशु और मातृ मृत्युदर में बढ़ावे की बड़ी वजह बनता जा रहा है। दूसरी ओर, दुनियाभर में प्रतिवर्ष 50 करोड़ के करीब लोग प्रतिवर्ष मलेरिया का शिकार होते हैं, जिनमें से करीब दस लाख की मौत भी हो जाती है।

- **उपेक्षा:** कई देश धीमे आर्थिक विकास, भारी उधारी के बोझ, हिंसक अंतर्विरोध और खाद्य असुरक्षा के दबाव के चलते संघर्षरत हैं। इन देशों की अधिकतर आबादी सामाजिक सेवाओं, भोजन सप्लाई और अवस्थापना ढांचे की सुविधाओं से कहीं दूर हैं। अपनी आर्थिक संपत्तियों के विकास की उन लोगों की क्षमता भी प्राकृतिक संसाधनों तक पहुंच के अभाव में खत्म होती जा रही है। ऐसे में कुछ आर्थिक पलायनवादी बन जाते हैं तो कुछ शरणार्थी जीवन जीने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप निर्धन देश और निर्धन लोग वैश्विक अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया में निरंतर उपेक्षित बने रहते हैं।

- **जनसंख्या वृद्धि:** जनसंख्या में निरंतर बढ़ोतरी उपरोक्त सभी दबावों को और अधिक बढ़ाने का काम करती है। यहां लोगों की संख्या से अधिक महत्वपूर्ण तथ्य संसाधनों पर उनका सघन दबाव और उपभोग है। वैश्विक आबादी अब छह अरब तक पहुंच चुकी है, जो कुछ वर्ष पहले जनसंख्या को लेकर लगाये गये अनुमान से कुछ धीमी रफ्तार जरूर है, लेकिन इसके अब भी लगातार बढ़ने की ही संभावना है।

- **उपभोग:** प्रति व्यक्ति आय के लिहाज से पिछड़े देशों के मुकाबले विकसित अर्थव्यवस्थाओं में उच्च उपभोग की बढ़ती मांग पर्यावरण पर अधिक प्रभाव डाल सकती है। आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं के प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग का स्तर लगातार बढ़ रहा है। यदि सभी तत्वों (मिट्टी क्षरण, खनन अपशिष्ट और अन्य सहायक तत्वों) के लिहाज से देखा जाये तो आंकड़ों के लिहाज से यह प्रतिवर्ष 45 से 85 टन प्रति व्यक्ति पहुंच चुका है। यह आकार स्पष्ट करता है कि

कितने बड़े पैमाने पर पर्यावरण को नुकसान पहुंच रहा है। यहां यह भी ध्यान देना जरूरी है कि यदि विकासशील देशों में भी संसाधनों का इसी तरह उपयोग–उपभोग प्रारंभ हो जाये तो यह वैश्विक संसाधनों पर असीमित पर्यावरणीय दबाव बढ़ा देगा।

- **वैश्विक ऊजा उपयोगः** वर्ष 1971 से अब तक वैश्विक ऊर्जा उपयोग में 90 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुयी है। हालांकि, अब भी दो अरब लोग जीवाश्म ईंधन आधारित अर्थव्यवस्था से जुड़ नहीं सके हैं। यद्यपि इसकी बढ़ोतरी का अर्थ यह है कि अधिक लोग ऊर्जा सेवाओं से जुड़ पायेंगे, लेकिन इसका नकारात्मक पहलू यह है कि इसके कारण ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन के मौजूदा स्तर में 50 प्रतिशत तक वृद्धि होगी। ऐसे में ऊर्जा दक्षता को बढ़ाने के साथ जीवाश्म ईंधन पर निर्भरता को कम करने की जरूरत है। हालांकि, हवा, सौर, जियोथर्मल, जलविद्युत और अन्य नवीकृत ऊर्जास्रोतों की दिशा में उल्लेखनीय विकास और तकनीकी उन्नति हुयी है, लेकिन जीवाश्म ईंधन की कम लागत अब भी बड़े पैमाने पर लोगों को नये ऊर्जास्रोतों से जुड़ने की राह में बाधा बनी हुयी है।

- **जलवायु परिवर्तनः** 90 के दशक के अंत में कार्बन डाई ऑक्साइड का उत्सर्जन 1950 के मुकाबले लगभग चार गुना बढ़ गया था। यह बढ़ोतरी 160,000 साल में सर्वाधिक थी। जलवायु परिवर्तन पर गठित अंतरसरकारी पैनल के अनुसार आंकड़े स्पष्ट करते हैं कि जलवायु परिवर्तन के लिये मानवीय गतिविधियां ही जिम्मेदार हैं। मौसमचक्र में परिवर्तन, पारिस्थितिकीय उत्पादन और प्रजातियों की संरचना में बदलाव और चरम मौसमी घटनाएं इसका परिणाम हैं। यह सीधे तौर पर मानव स्वास्थ्य और प्राकृतिक संसाधनों प्रबंधन, कृषि, वानिकी एवं मत्स्यपालन आदि पर गहरा असर डालने के साथ सभी देशों को प्रभावित करते हैं। विकासशील और बेहद अल्पविकसित देशों को इस लिहाज से अत्यधिक जोखिमवाला माना जा सकता है, जबकि इस समस्या के योगदान में उनका मौजूदा योगदान बेहद कम होता है। **सा**

- **नाइट्रोजन उत्सर्जनः** बेहद सघन कृषि, जीवाश्म ईंधन का दहन और फलीदार फसलों का भारी उत्पादन पर्यावरण में नाइट्रोजन की बढ़ोतरी की वजह बन रहा है। जिससे अम्लता बढ़ती है और जो पारिस्थितिकी में प्रजातीय संरचना में बदलाव, ताजे पानी में मानवीय उपयोग के मानकों से अधिक नाइट्रिक तत्वों की बढ़ोतरी, पानी में गंदगी से जलीय जीवों पर असर आदि का कारण बनता है। नाइट्रोजन ऑक्साइड का उत्सर्जन ग्लोबल वार्मिंग का कारण है। वैज्ञानिक मानते हैं कि पर्यावरण में नाइट्रोजन चक्र की बढ़ोतरी के कार्बन चक्र की बढ़ोतरी के मुकाबले कहीं अधिक गंभीर परिणाम सामने आ सकते हैं।

- **प्राकृतिक संसाधनों का नाशः** प्राकृतिक संसाधनों के अभाव, भूक्षरण, वनों और मत्स्य जीवों का अभाव, वनों का कटान आदि के चलते पर्यावरणीय नुकसान लगातार बढ़ रहा है। 1990 से 1995 के बीच दुनियाभर में 6.5 करोड़ हेक्टेअर से अधिक वन खत्म हो गये थे। मूंगा चट्टानों, ताजे जल के क्षेत्र जैसे नाजुक जलीय पर्यावरण भूमि आधारित प्रदूषण के कारण खतरे में हैं। बांधों का निर्माण, मछली पकड़ने की अनुचित तकनीक भी जलवायु परिवर्तन का कारण हैं। एक अनुमान के अनुसार मानवीय गतिविधियों के कारण दुनिया की 60 प्रतिशत से अधिक मूंगा चट्टानें और 34 फीसदी से अधिक मत्स्य प्रजातियां खतरे में हैं। उत्पादन और उपभोग के मौजूदा पैटर्न, जलवायु परिवर्तन धरती पर प्राकृतिक संसाधनों की निरंतरता की क्षमता पर सवाल खड़े करते हैं कि आखिर

वे कब तक बढ़ती शहरी आबादी के लिये भोजन उपलब्ध करायेंगे और सतत बने रहेंगे। पृथ्वी पर पारिस्थितिकी की जैवविविधता और नवीकृत प्राकृतिक संसाधनों में बीते 30 वर्षों में 33 प्रतिशत की गिरावट आयी है, जबकि मांग में दोगुने से भी अधिक बढ़ोतरी हो चुकी है।

- **विविधता का ह्रासः** जैविक उत्पाद और प्रक्रियाएं वैश्विक अर्थव्यवस्था में 40 प्रतिशत योगदान करती हैं। ऐसा अधिकतर उत्पादन लगातार घटती प्रजातियों को उगाने से मिलता है। बड़े पैमाने पर कृषि और वानिकी उत्पादन स्थानीय जैवविविधता को नष्ट कर एकल कृषि पर केन्द्रित होती है। हालांकि, समय के साथ जैवविविधता के महत्व को लेकर जागरूकता भी बढ़ी है, लेकिन जैवविविधता का कुछ हिस्सा बड़ी और शक्तिशाली कंपनियों के हाथों में जाने लगा है। आजीविका के स्तर पर कई निर्धन समूह जैविक प्रजातियों पर निर्भर हो सकते हैं और बदलती परिस्थितियों में वे लुप्त होती प्रजातियों को बचाये रखने में अहम भूमिका निभा सकते हैं। लेकिन अकसर ऐसे कम ही संगठन या संस्थाएं नजर आती हैं जो आजीविका के साथ जैवविविधता के महत्व को भी समझें और स्थानीय अधिकारों की भी देखरेख करें। इसके साथ ही सांस्कृतिक विविधता (जो जैवविविधता को भी बढ़ावा देती है) में भी निरंतर गिरावट आ रही है। उत्पादन, संचार, ज्ञान, कार्य और सुविधाओं के वैश्वीकरण ने उन परंपराओं को नगण्य कर दिया है, जो जैवविविधता और प्राकृतिक संसाधनों को लौटाने में मददगार हो सकते थे।

- **प्रदूषणः** अधिकतर देश सामान्य से चिंताजनक स्तर तक के प्रदूषण को झेल रहे हैं, जो पानी, मिट्टी और हवा यानी सभी बुनियादी संसाधनों को बुरी तरह प्रभावित कर रहा है। कई देशों में प्रदूषण उन्मूलन को लेकर अभियानों के बावजूद दुनियाभर में रासायनिक तत्वों की उपलब्धता में विस्तार, पेस्टीसाइड्स का इस्तेमाल, भारी धातुओं, सूक्ष्म कणों और अन्य तत्वों का पानी, हवा और मिट्टी में मिलना–घुलना मानव स्वास्थ्य एवं पर्यावरण को भारी नुकसान पहुंचा रहा है।

- **पानी की बढ़ती कमीः** वैश्विक स्तर पर जल का उपयोग–उपभोग तेजी से बढ़ रहा है। पानी की कमी 21वीं सदी का सबसे चिंताजनक और दबाव वाला बिंदु बनने की संभावना है। दुनिया की एक तिहाई आबादी ऐसे देशों में रह रही है, जो पहले से जल की कमी से जूझ रहे हैं। यह संख्या अगले बीस साल में दो तिहाई तक पहुंचने की आशंका है। ऐसे में पानी को बचाने, जल संरक्षण तकनीकों के विकास के लिये आवश्यक और कारगर कदम उठाये जाने की जरूरत है।

- **अन्य शहरी समस्याएंः** संसाधनों, विशेषज्ञताओं के अभाव, कमजोर शासनतंत्र के साथ निरंतर औद्योगीकरण और शहरीकरण पर्यावरणीय और सामाजिक समस्याओं को बढ़ा रहा है। जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, ठोस अपशिष्ट निस्तारण की व्यवस्था का अभाव, खतरनाक और जहरीला कचरा, ध्वनि प्रदूषण ने शहरी क्षेत्रों को पर्यावरण संकट वाले क्षेत्रों के तौर पर स्थापित कर दिया है। इसके चलते यहां रहने वाले निर्धन वर्ग के लोगों के बच्चे स्वास्थ्य के लिहाज से सर्वाधिक जोखिम में होते हैं।

7.4. सतत विकास के प्रति रणनीतिक दृष्टिकोण (Strategic Approach to Sustainable Development)

उपरोक्त वर्णित कई चुनौतियां परस्पर संबंधित हैं, जिसके चलते सतत विकास के लिये उपयुक्त रणनीतिक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। इसके तहत सामाजिक, पर्यावरणीय और आर्थिक प्राथमिकताएं तय करना, निवेश, उत्पादन और उपभोग के नये तरीके बढ़ाना शामिल हैं। इन मसलों को स्थानीय, राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर सरकारों द्वारा देखा जाना चाहिये। यहां यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि हर देश में शासन व्यवस्था का कार्यढांचा अलग होता है। ऐसे में जिला स्तर, प्रांतीय और राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्था और प्रक्रियाओं में बदलाव आता है। विकेन्द्रीकरण और वैश्वीकरण वे दो पहलू हैं जो कहीं संपूरक तो कहीं द्वंद्वात्मक रूप से शासन के लिहाज से बेहद अहम हैं। यह भी देखा जाता है कि कई सामाजिक और पर्यावरणीय मसले विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में बेहतर देखे जाते हैं, लेकिन वैश्वीकरण के बिन्दु पर वैश्विक नियम और शासन व्यवस्था की आवश्यकता महसूस होती है। इस तरह सतत विकास के लिये रणनीति तैयार करने में तीन स्तर पर चुनौतियां सामने आती हैं:

1. यह निर्धारित करना कि किस मुद्दे की निगरानी के लिये कौन सा स्तर उपयुक्त होगा
2. विभिन्न स्तरों पर नीतियों के समन्वय और संयोजन को निश्चित करना
3. स्थानीय लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने के रास्ते तलाशना (तब भी जब यह महसूस हो कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पहलों में नीति के तौर पर इसे शामिल करना बेहतर है)

7. 5 भारत में सतत विकास (Sustainable Development in India)

1972 में भारत की प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने स्टॉकहोम में मानव पर्यावरण पर आधारित यूएन कांफ्रेंस में इस बात पर जोर दिया कि वैश्विक पर्यावरणीय रणनीति में निर्धनता उन्मूलन का लक्ष्य भी शामिल किया जाना चाहिये। अंतरसंबंध, साझा दुनिया, वैश्विक नागरिकता जैसे मसले सिर्फ पर्यावरणीय मसलों तक सीमित नहीं हो सकते हैं। पर्यावरण संरक्षण और मानवीय विकास को लेकर परस्पर संबद्ध उत्तरदायित्व समान रूप से लागू होते हैं। ऐतिहासिक रूप से असमानता ने दुनिया की तीन चौथाई आबादी को कम विकसित देशों में रहने पर मजबूर किया है और आबादी का 1/5वां हिस्सा गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहा है। औद्योगीकरण, शोषण, पर्यावरणीय नुकसान के दीर्घकालिक परिणामों को आसानी से दूर करना संभव नहीं है। इसके लिये यह जरूरी है कि विकास को इस तरह तैयार किया जाये कि उसके दीर्घकालिक प्रभाव सामने आयें। ये समस्याएं बेहद जटिल और कठिन हैं। हमारा साझा भविष्य तभी बेहतर हो सकता है जब हम साझा चिंताओं को लेकर समान समझ विकसित करें और साझा उत्तरदायित्वों का निर्वहन करें। बेहतर सतत विकास के भविष्य के लिये जिन बिन्दुओं और लक्ष्यो को हासिल करना आवश्यक है, वे निम्नवत हैं:

- **गरीबी उन्मूलन एवं सतत आजीविका:** निर्धनता और पर्यावरणीय ह्रास परस्पर संबंधित हैं, विशेष तौर पर ऐसे क्षेत्रों में, जहां लोग अपनी आजीविका के प्राथमिक स्रोत के तौर पर अपने आसपास मौजूद प्राकृतिक संसाधनों पर ही निर्भर हैं। प्राकृतिक व्यवस्था को पुनर्जीवित करना और प्राकृतिक संसाधनों की स्थिति में सुधार ही गरीबी उन्मूलन की दिशा में किये जाने वाले प्रयासों के केन्द्रबिन्दु हैं। निर्धन वर्गों की अस्तित्व की आवश्यकताएं उन्हें पहले से अपमानक पर्यावरण को और अधिक नुकसान पहुंचाने पर मजबूर करती हैं। ऐसे में बेहतर पर्यावरण के लिये गरीबी को खत्म करना

आवश्यक हो जाता है। निर्धनता का अर्थ भूख और कुपोषण की समस्या से भी है। इसके अलावा उपलब्ध भोजन तक गरीबों की पहुंच का अभाव और असमान वितरण भी इसके साथ जुड़े हैं। इसके चलते ऐसी व्यवस्था आवश्यक है, जो सार्वजनिक वितरण प्रणाली को मजबूत करने के साथ असमानता को भी दूर करे। पारंपरिक रूप से निर्धन वर्ग के लोगों को संसाधन मुहैया कराने वाली जमीनों के आर्थिक उपयोग ने निर्धन लोगों की समस्याओं को और बढ़ाया है। बाजार की शक्तियों ने उन पारंपरिक फसलों को नष्ट किया है जो निर्धन वर्ग के भोजन का अहम हिस्सा रहे हैं, जिसके चलते खाद्य सुरक्षा और कुपोषण की स्थिति भयावह होती जा रही है। आर्थिक विकास कई पारंपरिक व्यवसायों को नष्ट करने की वजह बनता है। ऐसे में पर्यावरण के संरक्षण को लेकर प्रारंभ की जाने वाली सतत विकास की प्रक्रिया नये रोजगार और अवसरों के सृजन के साथ पारंपरिक कौशल को नये व्यवसाय के तौर पर स्थापित कर सकता है। पारंपरिक घरेलू कामकाज के अलावा इस वर्ग की महिलाएं आजीविका के लिये आय कमाने से भी संबद्ध रहती हैं। कई निर्धन परिवारों में महिलाएं ही मुखिया या रोजी–रोटी का माध्यम हैं। ऐसे में नीति के स्तर पर उनकी समानता और न्याय के लिये आवश्यक कदम उठाये जाने जरूरी हैं। साक्षरता और बुनियादी शिक्षा वे दो पहलू हैं जो निर्धन वर्ग के लोगों को विकास प्रक्रिया से मिलने वाले लाभ तक पहुंच और बाजार में उपलब्ध अवसरों से जोड़ने के लिये आवश्यक हैं। एक अनुमान के अनुसार अब भी करीब 60 फीसदी आबादी बाजारी अर्थव्यवस्था से संबद्ध नहीं है। ऐसे में सतत विकास का लक्ष्य हासिल करने के लिये इन लोगों की आजीविका की सुरक्षा अनिवार्य है।

- **उत्पादन और उपभोग के बदलते पैटर्नः** बाजारी उपभोक्तावाद के चलते बढ़ती क्रयशक्ति, जरूरत से अधिक उपभोग ने विकासशील देशों में बुनियादी संसाधनों पर दबाव बहुत अधिक बढ़ा दिया है। यहां इस समस्या से निपटने के लिये जनजागरूकता और शिक्षा बेहद आवश्यक है। कई क्षेत्रों में उपभोग के निश्चित मानक और सीमाएं तय करना और शिक्षा, प्रोत्साहन व नियमन के जरिये उचित तंत्र के माध्यम से इन्हें लागू करना आवश्यक है। कई पारंपरिक क्रियाएं सतत और पर्यावरण अनुरूप होती हैं। ऐसी क्रियाओं, परंपराओं को आधुनिक और असतत तकनीक, कार्यों से बदलने के बजाय प्रोत्साहित करने की जरूरत है। तकनीक और अवस्थापना विकास से संबंधित निर्णय उपभोग पैटर्न के बड़े निर्धारक हैं। ऐसे में ऐसे निर्णयों के मूल्यांकन की आवश्यकता है जो अधिक सतत समाज की ओर बढ़ने की दिशा प्रदान करें। ऐसी कई तकनीकें भी उपलब्ध हैं, जिनके जरिये संसाधनों के उपभोग को कम किया जाना संभव है। इन तकनीकों की पहचान, उन्हें लागू करने की बहुत जरूरत है। छूट यानी सब्सिडी कई बार किसी संसाधन के जरूरत से अधिक दोहन और नुकसान की वजह बनती है। ऐसे में लागत मूल्य तंत्र को सतत विकास के दृष्टिकोण से मूल्यांकन के बाद पुनर्निर्धारित करने की जरूरत है।

- **प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण एवं प्रबंधनः** पर्यावरणीय सततता और कृषि उत्पादन के लिये यह आवश्यक है कि भूमि–जल प्रबंधन के साथ कृषि का एकीकरण और पारिस्थितिकी संरक्षण किया जाये। पर्यावरणीय दृष्टिकोण सभी विकास परियोजनाओं का मूल्यांकन, निर्देशन करने के साथ इस प्रक्रिया में स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों की भूमिका की पहचान भी करता है। यह पहचान इन संसाधनों पर आधारित स्थानीय लोगों के हितों के संबंध में उनके विचारों और दृष्टिकोण के आधार पर समग्र रूप से की जानी चाहिये। इसके लिये ऐसी सुपरिभाषित व्यवस्था होनी चाहिये, जो

भूमि–जल एवं अन्य जैविक स्रोतों तक सबकी समान पहुंच, परंपराओं के अधिकार, पारंपरिक समुदायों, महिलाओं की आजीविका का ध्यान रखते हुये निर्धनता उन्मूलन की दिशा में काम करे। जल नियंत्रण व्यवस्था से पारिस्थितिकी के संरक्षण की दिशा में प्रयास किये जायें, ताकि सभी जलस्रोतों और उनके कैचमेंट को एकीकृत कर पानी को बचाने की दिशा में काम हो सके। इस सबके जरिये पारिस्थितिकीय सेवाओं की विस्तृत श्रृंखला और स्वस्थ पारिस्थितिकी तथा इनके जरिये बेहतर आजीविका उपलब्ध करा पाना संभव हो सकता है। बायोमास ईंधन और ऊर्जा का प्रमुख स्रोत (विशेषतः निर्धन वर्ग के लोगों के लिये) है जो लंबे समय तक चलने वाला है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये ऐसे समुचित तंत्र की स्थापना करना आवश्यक है, जिसके तहत बायोमास का सतत उपभोग सुनिश्चित किया जा सके। ऐसी तकनीकों का विकास जरूरी है जो न्यूनतम प्रदूषण करने वाली हों और बायोमास पर पड़ने वाले दबाव को कम कर सकें, क्योंकि यह पर्यावरणीय नुकसान की वजह बनता है। पवित्र पौधों–तालाबों, जल संचय के पारंपरिक दृष्टिकोण के आधार पर प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन की व्यवस्था और तंत्र विकसित किया जाना चाहिये। इसके लिये पारिस्थितिकीय विचार और पारंपरिक तंत्र में मौजूद सामुदायिक प्रबंधन की भावना के जरिये सांस्थानिक तंत्र स्थापित करना जरूरी है।

- **वैष्विक दुनिया में सतत विकासः** वैश्वीकरण की मौजूदा प्रक्रिया अमीरों और गरीबों के बीच विभाजन को लगातार बढ़ा रही है। इसे इस तरह मोड़ना आवश्यक है कि यह न सिर्फ व्यावसायिक उद्देश्यों की पूर्ति करे, बल्कि विकास की सामाजिक जरूरतों को भी पूरा करे। वैश्विक व्यवसाय उपभोक्ताओं की पसंद की एकरूपता के उच्च स्तर पर पनपता है। दूसरी ओर, स्थानीय सततता के लिये इसे स्थानीय परंपराओं, सांस्कृतिक विविधताओं के लिहाज से इसे निर्देशित किया जाना आवश्यक होता है। इस तरह नीतियों के स्तर पर सतत विकास के लिये विविधता के महत्व की पहचान और संरक्षण करना आवश्यक है। विकासशील देश कई बार बढ़ती वैश्विक अर्थव्यस्था में उचित कौशल की इच्छा में, कई बार बहुस्तरीय व्यापारिक समझौतों और बातचीत में नुकसान की स्थिति में रहते हैं। क्षमता विकास के लिये क्षेत्रीय सहयोग आवश्यक है, ताकि व्यापार के सभी चरणों पर उनकी भी प्रभावी भूमिका निश्चित की जा सके। वैश्वीकरण दुनियाभर में भारी मात्रा में मानव संसाधन से विस्तारित होता है, जिसमें करोड़ों लोग शामिल होते हैं। इन लोगों को सुरक्षा कई बार वैश्विक विरूपण के कारण होने वाली स्थानीय घटनाओं से खतरे में आती है। आजीविका और व्यापार की सुरक्षा के लिये तंत्र (विशेषकर विकासशील देशों में) की स्थापना आवश्यक है, जिसके तहत वैश्वीकरण को सतत विकास की प्रक्रिया बना दिया जाये। युद्ध और हथियारबंद विद्रोह सतत विकास की राह में कई बार बड़ी बाधा बनते हैं। ऐसे में इस तरह का तंत्र विकसित करना आवश्यक है जो इस तरह की परिस्थितियों में मध्यस्थता के साथ विवादित मसलों को सुलझाने का काम करे ताकि दूसरे पक्ष के विकास लक्ष्यों की भी पूर्ति की जा सके।

- **स्वास्थ्य एवं सतत विकासः** शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से मानव स्वास्थ्य नागरिकों की स्वस्थ्य पर्यावरण तक समुचित पहुंच पर आधारित होता है। स्वस्थ, लाभकारी और परिपूर्ण जीवन के लिये यह आवश्यक है कि संतुलित आहार, स्वच्छ–सुरक्षित पेयजल, साफ हवा, सफाई, पर्यावरणीय हाईजीन, प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा और शिक्षा तक हर व्यक्ति की शारीरिक और आर्थिक पहुंच उपलब्ध हो। साफ पानी और स्वस्थ पर्यावरण हर नागरिक का बुनियादी अधिकार होना

चाहिये। विकासशील देशों के नागरिक निरंतर जोखिम में रहने और बीमारियों का दोहरा बोझ झेलते हैं। हैजा और मलेरिया जैसी पारंपरिक बीमारियां असुरक्षित पानी के इस्तेमाल और हाईजीन की कमी के कारण होती हैं, इनके अलावा कैंसर, एड्स और तनाव आधारित आधुनिक बीमारियां भी बड़ी चिंताएं हैं। विकासशील देशों में लोगों को होने वाली अधिकतर बीमारियां व्यवसाय या रोजगार आधारित हैं, जो अकसर समृद्ध लोगों के उपभोग की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के दौरान ही होती हैं। ऐसे में संरक्षात्मक और सामाजिक उपचार तथा स्वास्थ्य एवं महामारी की दिशा में विशेष शोधकार्यों की आवश्यकता है। नीतियों के स्तर पर स्वास्थ्य और पर्यावरण मंत्रालयों में बेहतर समन्वय की आवश्यकता है, क्योंकि ये दोनों ही मसले परस्पर संबद्ध हैं। विकासशील देशों में बुनियादी स्वास्थ्य और शिक्षा व्यवस्था को मजबूत किया जाना जरूरी है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में उपचार के साथ संरक्षात्मक स्वास्थ्य सेवाओं को भी बढ़ावा देने की जरूरत है। लोगों को इस तरह जागरूक और सशक्त किया जाना आवश्यक है कि वे संरक्षात्मक स्वास्थ्य सेवाओं, पर्यावरण, हाईजीन आदि के प्रबंधन में सक्रिय सहभागिता निभा सकें। अधिकतर विकासशील देशों में प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित चिकित्सा सेवा की परंपरा रही है। यह परंपराएं इसलिये खत्म होने के कगार पर हैं, क्योंकि वैश्वीकरण और अनियोजित विकास से प्राकृतिक संसाधनों पर खतरा बढ़ गया है। ऐसे में पारंपरिक चिकित्सा के साथ आधुनिक चिकित्सा के संयोजन को बढ़ावा देना भी आवश्यक है। इसके अलावा विकासशील देशों में स्वास्थ्य सेवाओं को इस तरह क्षमतावान बनाने की जरूरत है कि वे बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ पर्यावरणीय जोखिम की पहचान करते हुये उसके संरक्षण का भी काम कर सकें।

- **सतत विकास के लिये शासन की मजबूतीः** संसाधनों का प्रभावी स्थानीय प्रबंधन सभी हितधारकों की सहभागिता से ही संभव है। स्थानीय स्तर पर लोकतांत्रिक संस्थानों का सशक्तीकरण सामान्यतः प्राकृतिक संसाधनों के बेहतर और सतत प्रबंधन का काम करता है। स्थानीय शासन में लोगों की प्रभावी सहभागिता बढ़ाने के लिये स्थानीय निकायों में कार्यकारी परिषदों और निर्वाचित कमेटियों में सामुदायिक समूहों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। समुचित अधिकार और क्षमताएं उन्हें स्थानीय विकास गतिविधियों की देखरेख करने में सक्षम बनायेंगी, जिसके तहत वे सामुदायिक प्राथमिकताओं, महत्वपूर्ण परियोजनाओं की निगरानी और सामुदायिक संपत्तियों का प्रबंधन कर सकेंगे। भारत में संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के माध्यम से सामुदायिक सशक्तीकरण की दिशा में कदम बढ़ाये गये हैं, लेकिन नियमो ंको प्रभावी तौर पर लागू करने की और ठोस व्यवस्था करने की अब भी जरूरत है। समाज के सभी सदस्य सतत विकास के हितधारक हैं और महिलाएं इसका आधा हिस्सा है। ऐसे में स्थानीय शासन में महिलाओं के बेहतर प्रतिनिधित्व के लिये सकारात्मक पहल, क्षमता विकास आवश्यक है ताकि वे विकास प्रक्रियाओं में प्रभावी और समान भूमिका निर्वहन करते हुये मुख्यधारा में शामिल हो सकें। बच्चे समाज की मूल्यवान संपत्ति हैं। ऐसे में यह न सिर्फ अभिभावकों, बल्कि समाज का भी दायित्व है कि उन्हें पूर्ण क्षमतावान, स्वस्थ पर्यावरण में जीवन जीने का अधिकार दिया जाये। स्थानीय स्तर पर इस तरह का माहौल और पर्यावरण तैयार करना शासन की सबसे बड़ी चुनौती है। विकास को सतत बनाने के लिये व्यावसायिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विविधताओं को समग्रता में लाना आवश्यक है। कई बार यह चुनौती सामने आती है कि विविधताएं सामाजिक असुरक्षा और अंतर्विरोध की वजह बन जाती हैं। ऐसे में नागरिक समूहों, स्थानीय अधिकरणों की सहभागिता को शासन और तंत्र में सुनिश्चित करना जरूरी है, ताकि

अंतर्विरोधों का प्रभावी समाधान निकाला जा सके। समाज में उपलब्ध कौशल समृद्धि को संस्थानों के साथ साझेदारी से जोड़कर और निखाने की जरूरत होती है। इसके लिये गैरसरकारी समूह, कॉरपोरेट और निजी संस्थाएं, अकादमिक और शोध संस्थान, ट्रेड यूनियन अहम होती हैं, जिन्हें नियोजन और सतत विकास प्रक्रियाओं में एकीकृत किया जाना चाहिये।

- **सतत विकास नीतियांः** एक तरफ ऐसे कई नियम हैं, जो पुराने और अप्रासंगिक हो चुके हैं तो दूसरी ओर प्रासंगिक नियमों को लागू करने की दिशा में प्रभावी कदम उठाये जाने की कमी स्पष्ट नजर आती है। इसके चलते नियमों की समीक्षा की आवश्यकता महसूस होती है। नियमों में कहां कमी है, वे क्यों लागू नहीं हो पा रहे जैसे बिन्दुओं को समझना और उनकी पहचान करना बहुत आवश्यक है। यहां यह भी समझने की जरूरत है कि नियम तब तक समाधान नहीं दे सकते, जब तक उन्हें लागू करने के प्रभावी तंत्र की व्यवस्था नहीं हो। कई पारंपरिक व्यवस्थाओं की वैधता और मूल्यों की पहचान करने के साथ उन्हें शासन की विकास नीतियों और विचारों में शामिल कर मुख्यधारा में लाने की आवश्यकता है। इनके एकीकरण के लिये समुचित तंत्र की स्थापना की जानी चाहिये। कई नीतियां ऐसी हैं, जिन्हें सतत विकास की अवधारणा के सामाजिक दृष्टिकोण से जुड़ने से पूर्व तैयार किया गया था, ऐसे में अब इनकी समीक्षा और पुनर्निर्धारण की भी जरूरत महसूस होती है। सभी तरह की भावी नीतियों को सतत विकास के परिप्रेक्ष्य में ही तैयार किया जाना चाहिये। ऐसे क्षेत्रों की पहचान करना आवश्यक है, जो अब भी नीतियों के दायरे से बाहर हैं और वहां समुचित नीतियों को शामिल किया जाना चाहिये। सतत विकास के क्षेत्र में क्षेत्रीय और वैश्विक समन्वय के अवसर और जरूरतें हैं। जलक्षेत्र, नदी तटों पर ऐसे सहयोग की बड़ी आवश्यकता होती है। इसके अलावा सीमापार पर्यावरणीय प्रभावों, जैविक संसाधनों के प्रबंधन, तकनीकों की साझेदारी और सतत विकास के अनुभवों का आदान–प्रदान भी आवश्यक है। विशेषकर विकासशील देशों में इस तरह के प्रयास किये जाने चाहिये कि संतुलित अनुभवों के आधार पर क्षेत्रीय चिंताओं को अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर प्रभावी रूप से रखा जा सके।

7.6 निष्कर्ष (Conclusion)

सतत विकास के लिये नीतियों के निर्माण में समग्र और एकीकृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है, ताकि पर्यावरणीय, सामाजिक, आर्थिक आयामों पर विकास के विस्तृत पहलुओं को समझा और उनकी दिशा में काम किया जा सके। एकीकृत, अनुशासित दृष्टिकोण भी आवश्यक है ताकि ज्ञान के आधार के विखंडन और असमानता की समस्या से पार पाया जा सके और जटिल परेशानियों के समाधान तलाशे जायें। इस इकाई के अध्ययन के जरिये हमने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से सतत विकास की अवधारणा को समझने का प्रयास किया है। इससे यह स्पष्ट हुआ है कि सतत विकास को लेकर हुयी रियो घोषणा और साझा भविष्य जैसे बुनियादी सन्दर्भ तैयार करने के दौरान कई तरह के समझौते भी किये गये। यह भी स्पष्ट हुआ है कि ब्रंटलैड कमीशन, रियो+20, जोहान्सबर्ग घोषणा आदि के बाद वर्ष 2015 से सतत विकास के नये स्वरूपों को लागू किया जा रहा है। यहां यह जरूरी है कि ऐसी नीतियां और पहल की समग्र, निर्बाध प्रक्रियाओं को तैयार किया जाये जो एकल लक्ष्य आधारित और सीमित परिणाम देने वाली नीतियों से आगे जाकर काम कर सकें।

इकाई 8

पर्वतीय क्षेत्रों में गरीबी उन्मूलन, आजीविका एवं सतत विकास

(Poverty Reduction, Livelihood and Sustainable Development in Hill Areas)

8.0: उद्देष्य (**Objectives**)

8.1: परिचय (**Introduction**)

गरीबी उन्मूलन (**Poverty Reduction**)

गरीबों की समस्याएं (**Problems of The Poor**)

भारत में ग्रामीण परिदृष्य (**Ruaral Scenario in India**)

8.2: सामुदायिक विकास कार्यक्रम (**Community Development Programme**)

8.3: पंचायती राज संस्थान (**Panchayati Raj Institutions**)

8.4: एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (**Integrated Rural Development Programme**)

8.5: जनसहभागिता पर जोर (**Emphasis on People's Participation**)

8.6: गैरसरकारी संस्थाओं की भूमिका (**Role of NGOs**)

8.7: सतत विकास की रणनीति (**Strategy for Sustainable Development**)

8.8: उन्नति के लिये जनप्रयास (**People's Initiatives for Progress**)

8.9: मूल मुद्दे एवं चुनौतियां (**Key Issues and Challenges**)

8.10: नीतियां (**Policy Context**)

8.11: पर्वतीय कृषि एवं आजीविका की विविधताएं (**Mountain Agriculture and Diversification in Livelihoods**)

8.12: खाद्यान्न अभाव, प्राकृतिक आपदाएं, विपत्तियां, जोखिम (**Food Deficit, Natural Hazards, Adversities, Risks and Vulnerability**)

8.13: पहुंच के अवसर, पर्वतीय–निचली भूमि और वैष्वीकरण के प्रभाव (**Accessibility, Highland-Lowland Linkage and Impact of Globalization**)

8.14: प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन और नियंत्रण (**Governance of Management of Natural Resources**)

8.15: भूउपयोग (**Landuse**)

8.16: लैंगिक एवं सामाजिक समानता (**Gender and Social Equity**)

8.17: गरीबी उन्मूलन एवं विकास की क्षेत्रवार नीतियां (**Sectoral Stratigies and Policies for Growth and Poverty Alleviation**)

8.18: पर्वतीय उद्यम विकास (**Mountain Enterprise Development**)

8.19: सतत आजीविका के लिये वनोत्पादों का वाणिज्यीकरण (**Commercialization of Forest Products for Sustainable Livelihood**)

8.20: पर्वतीय पर्यटन (**Mountain Tourism**)

8.21: भूमि व्यवस्था एवं प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन (**Land System and Natural Resource Management**)

8.22: पहुंच, समानता एवं संबंध (**Accessibility, Equity and Linkages**)

8.23: सन्दर्भ (**References**)

8.0: उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के बाद हम समझ सकेंगे कि:

1. पर्वतीय क्षेत्रों में आजीविका के साधन और वहां रहने वाले लोगों की स्थिति क्या है
2. पर्वतीय क्षेत्रों में निर्धनता उन्मूलन और सतत विकास के लिये क्या नीतियां आवश्यक हैं
3. पर्वतीय क्षेत्रों में वानिकी प्रबंधन क्या है और इसकी जरूरत क्यों होती है
4. पर्वतीय क्षेत्रों में उद्यम विकास किस तरह गरीबी उन्मूलन के लक्ष्य को पाने में मददगार हो सकता है

8.1: परिचय (Introduction)

दक्षिणी एशिया के पहाड़ लाखों ग्रामीण, निर्धन लोगों के आवास हैं और प्राकृतिक संसाधनों के निरंतर कम होने से उनकी आजीविका पर वर्तमान दौर में चुनौतियां खड़ी होती जा रही है, जो निचले क्षेत्रों में भी बाढ़ आदि का खतरा बनती हैं। विभिन्न अध्ययनों ने स्पष्ट किया है कि इस दिशा में त्वरित प्रभावी कदम नहीं उठाये गये तो पर्वतीय क्षेत्र में संसाधनों की कमी, निर्धनता, भुखमरी जैसी समस्याएं निरंतर बढ़ती जायेंगी। इसके बड़े कारणों में बढ़ती आबादी, प्रति व्यक्ति आय में कमी, कृषि एवं गैर कृषि संसाधनों के अपर्याप्त विकास, पर्यावरणीय कुप्रबंधन शामिल हैं। वनों और अन्य प्राकृतिक संसाधनों का स्थानीय और बाहरी लोगों की ओर से अनियोजित और अंधाधुंध दोहन, विकास की प्रक्रिया में संसाधनों की अनदेखी, अपमानकों के कारण भूक्षरण, प्रदूषण और भूमि की उपजाऊ क्षमता में कमी जैसी समस्याएं तेजी से उभर रही हैं।

बीते कुछ दशकों में पर्वतीय क्षेत्रों में तेजी से परिवर्तन हुए हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार, सड़कों–बिजली की उपलब्धता, सिंचाई में सुधार, नयी कृषि तकनीकों ने पर्वतीय क्षेत्रों में खासा फेरबदल किया है। पहले पर्वतीय विकास समस्याओं पर जहां अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था, अब इसे लेकर जागरूकता और निश्चय स्पष्ट नजर आता है। पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले लोग भी सदियों तक उपेक्षित रहने के बाद अब अपेक्षित परिणामों के लिये जागरूक हो रहे हैं। बेहतर भविष्य के लिये उनमें इच्छाशक्ति भी तीव्र दिखती है। सरकारों के स्तर पर पर्वतीय क्षेत्रों और वहां रहने वाले समुदायों के विकास, आजीविका के बेहतर अवसर उपलब्ध कराने और पर्यावरण संरक्षण के लिये विभिन्न कदम उठाये गये हैं। हालांकि, इनके परिणाम इस पर निर्भर करते हैं कि किसी पर्वतीय क्षेत्र में उसकी विशेषता के आधार पर किस तरह और कौन सी नीतियों को लागू किया गया है। इसके बावजूद गरीबी को घटाने और आजीविका की सततता की चुनौती निरंतर बनी हुयी है, जिसका कारण न सिर्फ अवसरों की कम उपलब्धता और संबंधित क्षेत्र में संसाधनों व पर्यावरणीय संवेदनशीलता है, बल्कि पर्वतीय लोगों के सामाजिक–राजनीतिक एवं आर्थिक लिहाज से हाशिये पर बने रहना, विकास प्रक्रियाओं के तहत उठाये जाने वाले कदमों, व्यवस्थाओं में उनकी सांस्थानिक उपयोगिता तय नहीं हो पाना भी है।

पर्वतीय पारिस्थितिकी आर्थिक विकास और मानवजीवन के लिये महत्वपूर्ण कारक है। पर्वत स्वच्छ जल, खाद्यान्न, जीवनरक्षक औषधीय पौधे, उर्जा, जैवविविधता और संबंधित पारंपरिक ज्ञान के स्रोत हैं। इसके बावजूद इन क्षेत्रों और इनसे मिलने वाली इन वस्तुओं–सेवाओं को राष्ट्रीस आर्थिक नीतियों, विकास योजनाओं में अपेक्षित पहचान नहीं मिल सकी है। चूंकि, पर्वतीय पारिस्थितिकी को अब तक भौतिक सूचकांकों में शामिल नहीं किया गया है, राष्ट्रीय आर्थिकी और लोगों की आजीविका में उनके योगदान को भी बेहतर ढंग से चिह्नित नहीं किया जा सका है। यद्यपि पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों को समाज के बड़े हिस्से को जरूरत के संसाधनों को भारी मात्रा में उपलब्ध कराने के बदले बेहतर अवसर मिलने चाहिये, लेकिन उन्हें अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। दुर्गम क्षेत्र और अनियोजित अवस्थापना, संचार सुविधाओं का अभाव पर्वतीय क्षेत्रों में विकास कार्यों के लागत को बढ़ा देते हैं। इसका सीधा असर पर्वतीय राज्यों के आर्थिक और सामाजिक विकास के मानकों में पीछे रह जाने के तौर पर दिखता है।

पर्वतीय क्षेत्र दुनिया के सबसे नाजुक पर्यावरणीय क्षेत्र और यहां की पारिस्थितिकी विपदाओं की चपेट में हैं। उत्तराखंड में अनियोजित विकास के परिणाम हाल में झेले जा चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र का एजेंडा 211 पर्वतीय व्यवस्था के उन मूल्यों को अभिव्यक्त करता है, जिन्हें राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय नीतियों और प्राथमिकताओं में शामिल नहीं किया जा सका है। वैश्विक विकास प्रक्रियाओं में भी पर्वतीय क्षेत्रों के सतत विकास का पहलू हाशिये पर ही रखा गया है। यही वजह है कि रियो अर्थ समिट के बीस साल बाद भी चुनौतियां बरकरार हैं। पर्वतीय पारिस्थितिकी से मिलने वाली सुविधाओं को सतत बनाये रखने के लिये पर्वतीय क्षेत्रों को सकारात्मक दिशा में प्रोत्साहित करने की जरूरत है, ताकि वे पारिस्थितिकी के संरक्षण को लेकर काम करते रहें और मौजूदा राष्ट्रीय एवं वैश्विक चुनौतियों के साथ स्थानीय विकास जरूरतों को भी पूरा कर सकें। **सारिणी 1** में हम भारत के पर्वतीय राज्यों में आर्थिक अवस्थापना, मानव विकास, सामाजिक विकास आदि मानकों की स्थिति को अन्य राज्यों के मुकाबले तुलनात्मक समझ सकते हैं।

गरीबी उन्मूलन (Poverty Reduction)

आजादी के 70 वर्ष बाद सवा अरब की आबादी के साथ भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। इस लोकतांत्रित व्यवस्था और स्वतंत्रता को कायम रखने के लिये आर्थिक शक्तिसंपन्नता और नागरिकों के जीवनस्तर में गुणवत्ता अति आवश्यक है। चिंताजनक तथ्य यह है कि भारत में वार्षिक प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद 370 डॉलर है, जो चीन में 860 डॉलर, एशिया में 2450 डॉलर और विकसित देशों में 20 हजार डॉलर प्रति व्यक्ति के मुकाबले निम्नतम है। औद्योगिक विकास में उल्लेखनीय उन्नति के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था आज भी कृषि आधारित गतिविधियों पर निर्भर है। 65 फीसदी आबादी अब भी गांवों में रहती है और उनकी आजीविका का प्राथमिक साधन कृषि ही है। ऐसे अधिकतर परिवार अपनी 90 फीसदी से अधिक आय भोजन, ईंधन, स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जरूरतों पर ही खर्च कर देते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में 35 प्रतिशत परिवार निर्धनता के दायरे में आते हैं, जिनकी समस्याओं का समाधान, सामाजिक न्याय और बेहतर जीवन अवसर उपलब्ध कराना राष्ट्रीय प्राथमिकता है।

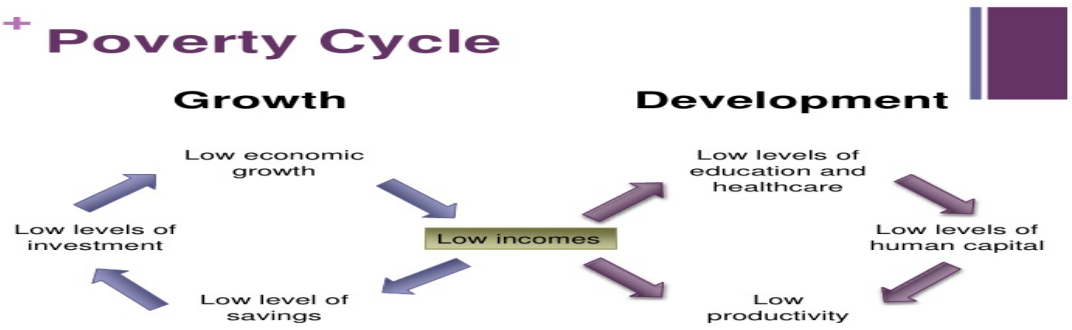

गरीबों की समस्याएं (Problems of Poor)

भारत में गरीबी का निर्धारण परिवार द्वारा अर्जित आय के हिसाब से किया जाता है। चार से पांच सदस्यों वाले एक परिवार को न्यूनतम बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिये वार्षिक 11 हजार रुपये यानी 275 अमेरिकी डॉलर की आवश्यकता होती है। ऐसे लोग, जो यह आय अर्जित नहीं कर पाते निर्धनता की श्रेणी में गिने जाते हैं। बेरोजगारी ग्रामीण निर्धनता का प्रमुख कारण है। मौसम पर आधारित खेती, बेहद छोटी भूमि स्वामित्व, कमजोर अवस्थापना, अशिक्षा, सामाजिक उपेक्षा, ग्रामीण औद्योगिक विकास के सीमित अवसर आदि भी इसके कारण हैं। भारत में ग्रामीण आबादी की आजीविका का मुख्य साधन भूमि है। 1991–92 में किये गये एक सर्वे की रिपोर्ट के अनुसार 11.25 प्रतिशत ग्रामीण परिवार भूमिहीन है, कुल भूमि स्वामियों में से 69.35 प्रतिशत के पास एक हेक्टेअर से भी कम जमीन है, जबकि 21.25 फीसदी के पास एक से दो हेक्टेअर जमीन है। पानी कृषि उत्पादन को बढ़ाने का महत्वपूर्ण कारक है। भारत में 169 लाख हेक्टेअर कृषि क्षेत्र में से महज 28 प्रतिशत ही सिंचाई सुविधाओं से जुड़ा हुआ है, बाकी हिस्सा बारिश पर निर्भर है, जहां वर्षभर में बमुश्किल एक ही फसल का उत्पादन संभव हो पाता है। 40 प्रतिशत फसल क्षेत्र निम्न वर्षा वाले इलाकों में हैं, जहां वर्षभर में महज 40–50 दिन का ही रोजगार उपलब्ध हो पाता है और फसलोत्पादन भी पांच साल में सिर्फ दो बार ही किया जा सकता है। कई पारंपरिक व्यवसायों में गिरावट और कमजोर सांस्थानिक अवस्थापना ने भी रोजगार के अवसरों को कम किया है। इस तरह करीब 90 प्रतिशत ग्रामीण आबादी को अस्तित्व को बचाये रखने के लिये आजीविका के दूसरे साधनों की ओर कदम बढ़ाना पड़ता है।

भारत में ग्रामीण परिदृश्य (Rural Scenario in India)

भारत की सवा अरब जनसंख्या में से 65 प्रतिशत गांवों में रहती है, जिसमें से 35 से 40 प्रतिशत परिवार निर्धन श्रेणी में आते हैं। करीब 25 प्रतिशत गांवों में साल के चार से पांच महीने पानी नहीं मिलता है और बाकी समय जब पानी मिलता भी है तो उसकी गुणवत्ता विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुरूप नहीं होती। पानी की यह कमी स्वास्थ्य समस्याओं को जन्म देती है और डायरिया ग्रामीण क्षेत्रों में नवजात मृत्यु दर का बड़ा कारण है। पारंपरिक भारतीय समुदाय पुरुषों के अधिकार वाला है और महिलाएं आज भी पीछे रहती हैं। यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता दर 50 से 65 प्रतिशत है, लेकिन महिलाओं में यह आंकड़ा इससे 25 प्रतिशत तक कम है। यही वजह है कि बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन देना बीते वर्षों में बेहद जरूरी समझा गया, जिसके अपेक्षित परिणाम भी अब नजर आने लगे हैं। साक्षरता की कमी भी वह वजह है, जो ग्रामीण

क्षेत्रों के विकास और बाहरी दुनिया से उनके संपर्क के रास्ते में बाधा बनी। ग्रामीण क्षेत्रों के लोग बदलते दौर के साथ नयी तकनीकों से जुड़ पाने में अक्षम रहे। संचार की कमी के अलावा सामाजिक रूढ़ियों ने भी उन्हें उन्नति के रास्ते पर बढ़ने से रोका। विभिन्न निहितार्थों से स्थानीय और बाहरी लोगों ने इनका शोषण भी किया है। समृद्ध जमींदारों ने अवस्थापना विकास के प्रयासों में हमेशा रुकावट डालने का प्रयास किया, क्योंकि इससे निर्धनों को भी अवसर मिलते जो उनके लिये सस्ते श्रमिक उपलब्ध होने की संभावनाओं को क्षीण कर देता। स्थानीय सूदखोर भी नहीं चाहते कि ग्रामीणों तक वैकल्पिक वित्तीय संस्थानों की पहुंच हो, जहां से वे सस्ता ऋण हासिल कर सकें। इसी तरह पारंपरिक नीमहकीम भी धर्म और दैवीय शक्तियों के नाम पर लोगों को आधुनिक चिकित्सा एवं दवाओं के इस्तेमाल से रोकने का प्रयास करते रहे हैं। इन सबके चलते निर्धन ग्रामीण लोग शक्तिशाली लोगों के अधीन बने रहकर शोषित, उपेक्षित जीवन जीते रहे। भारत में बड़ी संख्या में ग्रामीण परिवारों के भूमिहीन होने के पीछे यह वजह रहीं।

भारत सरकार ने गांवों में सामुदायिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास के मकसद से पंचायतों की व्यवस्था दी है। निजी स्वामित्व के अलावा चारागाहों और अन्य जमीनों पर सरकार का अधिकार होता है, जिनकी देखरेख ग्राम पंचायतों पर होती है। सरकार ने हर गांव में दस प्रतिशत भूमि को पशुधन के चारे के लिये छोड़ने का प्रावधान रखा है। इस जमीन पर ग्राम पंचायत का स्वामित्व होता है, लेकिन गांव के सभी लोगों के लिये इस भूमि पर जाने की स्वतंत्रता होती है। किन्तु अधिकतर लोग चारागाहों के प्रबंधन को अपना दायित्व नहीं समझते। इसके चलते अधिकतर गांवों में चारागाहों की जमीनें 'गायब' हो गयीं। कुछ इसी तरह की स्थिति ग्रामीण वनों और लकड़ी के उपभोग की भी रही। इसके चलते 50 फीसदी के करीब जमीन अनुपयोगी रह गयी है। इस तरह की बेकार भूमि वर्षाजल को रोकने में अक्षम होती जाती है और भूमिक्षरण, बाढ़ तथा अवसादन की वजह बनती है। ऐसी जमीनों का नियमित और बेहतर प्रबंधन चारे, ईंधन की उपलब्धता, वर्षाजल को रोकने और कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिये आवश्यक है।

फसलोत्पादन के लिये पानी सबसे आवश्यक तत्व है, लेकिन इसकी ही समुदाय अनदेखी करता रहा है। भारत में पानी के मुख्य स्रोत वर्षा, झीलें, नदियां, हिमशिखर और भूमिगत जलस्रोत हैं। कुओं और छोटे टैंकों को छोड़कर पानी के अन्य स्रोतों पर सामूहिक रूप से सबका हिस्सा है। लेकिन शक्तिसंपन्न गुट निहितों की पूर्ति के लिये इस संसाधन का भी मनमाने तरीके से उपभोग, उपयोग करते हैं, जबकि गरीबों को उनका हक तक नहीं मिल पाता। इसके चलते छोटे और बड़े भूस्वामियों के बीच आर्थिक असंतुलन तेजी से बढ़ा है। भारत में कृषि उत्पादन के लिये वर्षाजल सबसे बड़ा माध्यम है, लेकिन जल संरक्षण की बेहतर योजनाओं के अभाव और मिट्टी की धारण क्षमता कम होने के कारण वर्षाजल का 65 फीसदी हिस्सा नदियों में बाढ़ के रूप में बहकर निकल जाता है। भारत में सिर्फ 28 प्रतिशत कृषि भूमि सिंचाई सुविधा से जुड़ी हुयी है, लेकिन वहां के किसानों में पानी की फिजूलखर्ची देखी जाती है। ठोस प्रशिक्षण सुविधा के अभाव में वे मानते हैं कि खेतों में जरूरत से ज्यादा पानी डालने से इनकी उत्पादकता बढ़ जायेगी, जबकि मिट्टी की गुणवत्ता को लेकर वे उतने जागरूक नहीं होते। यही वजह है कि भारत में प्रति हेक्टेअर उत्पादन जहां सिर्फ 1.9 टन का है, चीन में ये चार टन प्रति हेक्टेअर है। जरूरत से अधिक सिंचाई करने के कारण भारत में नौ लाख हेक्टेअर जमीन खारी भूमि में बदलकर बंजर हो चुकी है। यह न सिर्फ खाद्य सुरक्षा के लिहाज से, बल्कि सामुदायिक स्वास्थ्य, पर्यावरण एवं जैव विविधता के लिहाज से भी खतरनाक स्थिति है।

पशुधन भी निर्धनों का महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है। सामान्यतः ग्रामीण परिवारों में दूध के लिये एक–दो गाय या भैंसें, खेती के लिये बैलों की जोड़ी और अतिरिक्त आय के लिये कुछ भेड़–बकरियां तथा मुर्गियां पाली जाती हैं। चारे की भारी कमी की वजह से निर्धन ग्रामीण अपने पशुओं को खुली जमीनों पर चरने के लिये ले जाते हैं। दूध की काफी अधिक मांग होने के कारण दुग्ध उत्पादन में अवसरों की अच्छी संभावनाएं हैं, लेकिन देखरेख के अभाव में भारत की बेहतर दुग्ध उत्पादन करने वाली गाय–भैंसों की प्रजातियां नष्ट हो चुकी हैं, जो बची हैं उनमें भी 80 से 85 प्रतिशत तक अनुत्पादक हैं, जिनकी वजह से एक ओर तो वनों पर दबाव पड़ता है, दूसरी ओर इन्हें पालने वाले निर्धन ग्रामीण भी लाभान्वित नहीं हो पाते।

भारत के 25 प्रतिशत गांव ऐसे हैं, जहां साल के 12 महीने पीने का पानी नहीं मिल पाता। 75 प्रतिशत पानी प्रदूषित होता है। इसके चलते बीमारियां बढ़ती हैं। दूरस्थ–दुर्गम गांवों तक बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं नहीं पहुंच पातीं। निरक्षरता आज भी ग्रामीण महिलाओं में 55 से 75 प्रतिशत तक है। प्रति एक हजार व्यक्ति पर 28 नये जन्मे बच्चों की दर एशिया की प्रति 1000 पर 23 बच्चों की दर से अधिक है, जिसके फलस्वरूप परिवारों में नये सदस्यों का दबाव तो बढ़ता है, लेकिन आय के साधन नहीं। जरूरतों को पूरा नहीं कर पाने से लोग आपात स्थितियों में कर्ज लेते हैं और समय से चुका नहीं पाने पर इसके जाल में फंसते चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में या तो गांवों से कुछ परिवार शहरों की ओर पलायन कर जाते हैं या फिर गांव में ही दयनीय दशा में रहने पर मजबूर होते हैं। अधिकतर ग्रामीण निर्धन तकनीकी ज्ञान से वंचित रहते हैं, न ही उन्हें उन संस्थाओं–संस्थानों की जानकारी होती है, जो तकनीकी परियोजनाओं पर काम करते हैं। निर्धन किसानों को बीते कुछ समय में सरकार और अन्य संस्थाओं की ओर से काफी मदद तो मिली, लेकिन पर्याप्त प्रशिक्षण और प्रेरणा के अभाव में इसका सदुपयोग करने में विफल रहे। जरूरी कार्यों के बजाय किसानों ने इस मदद का दुरुपयोग करना शुरू कर दिया, नतीजतन खेती में उन्हें अपेक्षित परिणाम नहीं मिले। इसके चलते धीरे–धीरे छोटे किसानों में निर्भरता की भावना बढ़ती गयी और वे अपनी आजीविका के लिये दूसरों की ओर देखने लगे। यहां यह उल्लेखनीय है कि अधिकतर ग्रामीण विकास कार्यक्रम बिना किसी नियोजन के ही लागू कर दिये जाते हैं। एकीकृत पहुंच के अभाव, बहुआयामी समस्याओं, क्षेत्रवार दिक्कतों, संसाधनों के अभाव जैसी परेशानियों से वे विफल हो जाते हैं।

8.2: सामुदायिक विकास कार्यक्रम (Community Development Programme)

भारत में सामुदायिक विकास की अवधारणा स्वतंत्रता से पूर्व ही विकसित हो गयी थी। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान महात्मा गांधी ने गांवों के उत्थान और पुनर्निर्माण का सिद्धांत दिया। उन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता के लिये 19 सूत्रीय कार्यक्रम पेश किया। वह अकसर नेताओं को चेताते थे कि स्वतंत्रता का लाभ तभी लिया जा सकता है, जब ग्रामीण अर्थव्यवस्था सक्षम हो और निर्धनता पूर्ण रूप से उन्मूलित हो जाये। उन्होंने सांप्रदायिक सौहार्द, आर्थिक समानता, सामाजिक समानता, नशा उन्मूलन, खादी को बढ़ावा, कुटीर उद्योगों को बढ़ावा, स्वच्छता, स्वास्थ्य सेवाएं, शिक्षा, महिला सशक्तीकरण जैसे बिंदुओं पर काम करने की जरूरक जतायी। इसका मकसद ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना और इसके जरिये जीवनस्तर में सुधार था (Gandhi, 1941). ब्रिटिश शासनकाल में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 ने प्रांतों को स्वायत्तता प्रदान करने के साथ जनकल्याण के मकसद से ग्रामीण क्षेत्रों में विकास को प्रमुख कार्यक्रमों की सूची में शामिल किया। द्वितीय विश्वयुद्ध और 1943 में बंगाल में अकाल के दौरान खाद्यान्न संकट बहुत बड़ी समस्या बनकर उभरा। ऐसे में उस दौर में 'Grow More Food Campaign' की शुरुआत हुयी, जिसके

तहत किसानों को निःशुल्क बीज वितरण, कुआं निर्माण, फसल के न्यूनतम शुल्क निर्धारण जैसी सुविधाएं दी गयीं। हालांकि, तब जमींदारी के चलते छोटे किसानों एवं जमींदारों के खेतों पर मजदूरी करने वाले ग्रामीणों के लिये इससे बहुत अधिक लाभान्वित होने की संभावना नहीं थी।

1947 में आजादी के बाद सामुदायिक विकास उच्च प्राथमिकता पर आया। 1948 में इटावा परियोजना के नाम से एक पायलट प्रोजेक्ट लांच किया गया। 1952 आते–आते भारत सरकार ने 300 गांवों में 30 हजार से अधिक आबादी के लिये 55 सामुदायिक परियोजनाएं प्रारंभ कर ली थीं। ये परियोजनाएं बहुआयामी थीं, लेकिन इनका मुख्य फोकस कृषि पर ही था। हालांकि, जो क्षेत्र इन परियोजनाओं के लिये चुने गये थे, वे या तो सिंचाई सुविधा से जुड़े हुए थे अथवा वहां वर्षा की अच्छी संभावनाएं थीं। 1953 में National Extension Service Project लांच किया गया, जिसमें सूखाग्रस्त क्षेत्रों को भी शामिल किया गया। तीनवर्षीय इस परियोजना के जरिये 150 से 300 गांवों को सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के संचालन के लिये चुना गया। इन सामुदायिक विकास ब्लॉकों को सामान्य प्रशासनिक इकाइयों की तरह देखा गया, जिनमें योजनाओं और विकास कार्यों के लिये नियमित बजट जारी किया जाता था।

पहली पंचवर्षीय योजना (1952–57) के समाप्त होने तक देशभर में 1114 ब्लॉक 1,63,000 गांवों के लिये तैयार हो चुके थे, जबकि 1960 तक सामुदायिक विकास परियोजना पूरे देश में लागू हो गयी थी। परियाजना का मुख्य उद्देश्य ऐसे समुदाय का विकास था, जहां जीवनस्तर की उच्च परिस्थितियां उपलब्ध हों और नागरिकों को पूर्ण अधिकार तथा समानता हासिल हो (Sachidananda, 1988). कार्यक्रम ने ग्रामीण निर्धनों की उन्नति, खेती, पशुपालन, सड़क, शिक्षा, रोजगार, आवास, सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों, कृषि आधारित अर्थव्यवस्था के विकास, साक्षरता, स्वास्थ्य, स्वच्छता, परिवहन एवं संचार जैसी सुविधाओं को बढ़ावा देने पर भी ध्यान केन्द्रित किया।

1950 से 1970 के बीच इन कार्यक्रमों का कोई अपेक्षित परिणाम नहीं निकला, जबकि निर्धनता का स्तर लगातार बढ़ रहा था। पूर्वी और दक्षिणी एशियाई देशों के मुकाबले भारतीय अर्थव्यवस्था धीमी थी। 1965 में भूमिसुधार कानून ने सामंती–उपनिवेशी मानसिकता के अवशेषों को भी ध्वस्त कर दिया, लेकिन इसके तहत कानूनों को लागू किये जाने के बावजूद भूमिहीनों तथा निर्धनों को जमीनों का नियंत्रण नहीं मिल सका (विशेषतः उत्तर भारत में)। इस दौर में गरीबी के स्तर में उतार–चढ़ाव दर्ज किया जाता रहा। 1960 के अंत और 1970 के दशक की शुरुआत तक मानसून की कमी के कारण वर्षा सामान्य से कहीं कम होने के कारण निर्धनता का स्तर काफी अधिक बढ़ गया। यहां तक कि कृषि विकास को लेकर संचालित किये जा रहे कार्यक्रम भी खाद्योत्पादन बढ़ाने के लक्ष्य में नाकाम रहे। 70 के दशक में भारत को अनाज आयात करने पर मजबूर होना पड़ा। इसकी वजह आबादी में खासी बढ़ोतरी होना था। खेती सो उत्पादन में सुधार, शिक्षा में सुधार के प्रयास भी इस दिशा में काम नहीं आ सके। 1952 से 1967 के बीच सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को मिलने वाले संसाधन भी बेहद कम थे। आंकड़ों में बात करें तो प्रति व्यक्ति यह मुश्किल से दस रुपये ही होता था।

8.3: पंचायती राज (Panchayati Raj)

सामुदायिक विकास कार्यक्रम लांच किये जाने के पांच साल बाद, यानी 1957 में सरकार ने बलवंत राय मेहता समिति का गठन इस कार्यक्रम के संचालन में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिये किया। समिति ने तीन स्तरीय ग्रामीण स्थानीय शासन की स्थापना का सुझाव दिया, जिसे पंचायती राज कहा गया। इसके तहत ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, ब्लॉक स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद बनायी जानी थी। इसका मकसद निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया को विकेन्द्रीकृत करने के साथ निर्णय लेने वाले केन्द्रों को जनता के करीब लाना, विकास कार्यों में उनकी सहभागिता बढ़ाना और अधिकारियों को जनता के नियंत्रण के अधीन लाना था। हालांकि, पंचायती राज भी जनता और नियोजनकर्ताओं की अपेक्षाओं पर पूरी तरह खरा नहीं उतर सका। इसकी वजह स्थानीय समुदाय में सामाजिक और आर्थिक रूप से संपन्न वर्गों का प्रभुत्व था, जो कमजोर वर्गों के कल्याण की अनदेखी करते थे। अन्य कारणों की बात करें तो इनमें राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के चलते पंचायत सदस्यों के बीच होने वाली खींचतान, अक्षमता और भ्रष्टाचार भी रहे। (Maheshwari, 1985). साठ के दशक के मध्य में एक बार फिर कृषि राष्ट्रीय प्राथमिकता में आयी और कृषि उत्पादन में तकनीकी इस्तेमाल पर जोर दिया गया। चौथे और पांचवें पंचवर्षीय योजना (1969–74 और 1974–1979) में स्वायत्त पदानुक्रम प्रशासनिक इकाइयों से इतर विशेष कार्यक्रम लागू किये गये। पंचायती राज व्यवस्था से इतर Small Farmers' Development Agency (SFDA), Intensive Agricultural Areas Programme (IAAP), Intensive Agricultural District Programme (IADP), Tribal Development Agency (TDA), Marginal, Small Farmers and Agricultural Labourers Development Agency (MFAL) जैसे कार्यक्रम संचालित करने के साथ कमांड एरिया डेवलपमेंट, सूखा प्रभावित क्षेत्र और पर्वतीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम जैसी नीतियां लागू की गयीं। ये सभी योजनाओं सीधे तौर पर केन्द्र सरकार द्वारा चलायी जाती थीं।

8.4: एकीकृत ग्राम्य विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme)

60 के दशक में सरकार द्वारा संचालित विशेष कार्यक्रमों ने देश में कृषि और खाद्यान्न उत्पादन में खासी मदद की, लेकिन इसका सर्वाधिक लाभ उन्हीं लोगों ने लिया, जिनका संसाधनों पर प्रभुत्व था। छोटे किसान दरकिनार कर दिये गये, उनकी आर्थिक स्थिति इसलिये भी खराब होती गयी, क्योंकि बड़े किसानों ने उन्हें अपनी जमीनों पर खेती करने देने से इनकार कर दिया। इस समस्या से निपटने के लिये 1979 में Integrated Rural Development Programme (IRDP) लागू किया गया, जिसका मकसद समाज के निर्बल वर्गों, विशेषकर निर्धन वर्गों को पर्याप्त आर्थिकी के अवसर प्रदान करना था। सातवीं और आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं में इस कार्यक्रम में कुछ अपेक्षित बदलाव भी किये गये। इनमें अवस्थापना और रोजगार योजनाओं के बीच समन्वय, सब्सिडी के बजाय ऐसे कार्यक्रम लागू करना जो स्वरोजगार को प्रेरित करें, ब्लॉक और जिला ग्राम विकास विभाग के जरिये विभिन्न कार्यक्रमों का विकेन्द्रीकरण आदि शामिल थे। इनके अलावा कई अन्य सहायक योजनाएं Development of Women and Children in Rural Areas (DWCRA), Training of Rural Youth for Self-employment (TRYSEM), National Rural Employment Programme (NREP), Jawahar Rojgar Yojana (JRY) आदि भी निर्बल वर्ग के लिये लागू की गयीं। 80 के दशक तक निर्धन वर्ग की कई जरूरतों जैसे साक्षरता, स्वास्थ्य,

जल वितरण, सड़कें, विद्युतीकरण, आवास एवं पोषण को लेकर सरकार काफी हद तक कदम आगे बढ़ा चुकी थी। 1993–94 में देश की 32.37 प्रतिशत आबादी गरीबी की श्रेणी में आती थी। सामान्य जाति के मुकाबले अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों में निर्धनता का यह आंकड़ा 17 से 22 प्रतिशत तक अधिक था। इसकी मुख्य वजह उनका भूमिहीन, निरक्षर होना थे।

8.5: जनसहभागिता पर जोर (Emphasis on People's Participation)

ग्राम्य विकास को लेकर कई कार्यक्रमों के संचालन के बावजूद निर्धन वर्ग के सतत जीवनस्तर में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं दिखा। शक्तियों के केन्द्रीकरण एवं विकास कार्यक्रमों में जनसहभागिता पंचायतीराज व्यवस्था की स्थापना का मुख्य उद्देश्य थे। यद्यपि इसे लोकतंत्र की आत्मा के रूप में लोगों की सहभागिता को बढ़ाने की एकमात्र उपाय माना जाता था, फिर भी इस व्यवस्था ने ग्रामीण क्षेत्रों में तनाव और अलगाव को बढ़ा दिया। इस स्थिति ने पंचायतीराज व्यवस्था में सुधार की जरूरत पर बल दिया, जिसके चलते 1992 में 72वें संविधान संशोधन के जरिये जनसंपर्क (PR) संस्थानों की स्थापना की गयी, जिनका काम विकास कार्यक्रमों और विकेन्द्रीकृत नियोजन में मदद था। उस समय तक सभी कार्य सरकारी तंत्र द्वारा ही संपन्न किये जाते थे और ग्रामीणों के लिये इनमें सहभागिता के पर्याप्त अवसर उपलब्ध नहीं थे। इसके चलते ग्रामीणों में निर्भरता का भाव बढ़ता जा रहा था और सरकारी अधिकारियों में तानाशाही रवैया बढ़ता देखा जा रहा था (Thapliyal, 1995). संविधान में संशोधन के बाद विकास संबंधी 29 क्षेत्र जनसंपर्क संस्थानों को सौंप दिये गये, इनमें कृषि, वानिकी एवं पर्यावरण, उद्योग, अवस्थापना, बुनियादी जरूरतें, समाज कल्याण, गरीबी उन्मूलन, सामुदायिक संपत्तियों का रखरखाव शामिल थे। ग्राम स्तर पर विकास की सूक्ष्म योजनाएं तैयार और लागू कर पाने में ग्राम पंचायतों की कमजोर स्थिति को ध्यान में रखते हुए जिला योजना समितियों को और शक्तिशाली किया गया। इनमें विभिन्न सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को भी सदस्य बनाया गया।

छोटे स्तर पर नियोजन के लिये ग्रामसभाओं के सशक्तीकरण का प्रस्ताव रखा गया। ग्राम पंचायतें ग्रामसभा में वार्षिक योजनाओं पर चर्चा और प्रस्ताव पारित करती हैं। इसके जरिये विभिन्न विकास कार्यक्रमों को लागू करने में प्राथमिकताएं भी तय करती हैं। इसी के साथ ऐसी सतत व्यवस्था की भी जरूरत है, जिसमें ग्रामीण ग्रामसभा की गतिविधियों में सक्रिय सहभाग कर सकें। सहभागिता की अनुपस्थिति में कुछ लोग निहितार्थों के लिये प्रक्रिया को अपने पक्ष में मोड़ने का प्रयास कर सकते हैं। किसान संगठनों, स्वयं सहायता समूहों, शैक्षिक संस्थानों और अन्य स्वयंसेवी संगठनों की ओर से ग्रामसभा में अपने प्रतिनिधियों को शामिल करना प्रक्रियाओं में सहभागिता एवं आम जनता के हितों की सुरक्षा को सुनिश्चित करता है (Hegde, 1999).

8.6: गैर सरकारी संगठनों की भूमिका (Role of NGOs)

भारत में ग्राम्य विकास योजनाओं को लागू करने में सफलता का एक महत्वपूर्ण कारक निर्धन वर्गों की सक्रिय सहभागिता को सुनिश्चित करना है। विभिन्न योजनाओं का निर्धन और उपेक्षित वर्गों तक सही लाभ पहुंचाने के लिये जनसंगठनों के विकास की भी जरूरत है। विकास प्रक्रिया में लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिये उन्हें किसी कार्यक्रम के नियोजन के प्रारंभिक चरण से ही विश्वास में लेना आवश्यक है। पायलट प्रोजेक्ट के तौर पर शुरू किये गये कई नवोन्मेषी कार्यक्रमों ने यह साबित किया कि

कई बार निर्धन लोगों की ओर से दिये गये छोटे–छोटे सुझावों के भी बेहतरीन परिणाम मिले हैं। इस दृष्टिकोण के लिये कार्यक्रमों में लचीलापन होना जरूरी है। लक्षित परिवारों को कार्यक्रम के बेहतर ढंग से लागू होने में उत्तरदायित्व सुनिश्चित करना चाहिये, जबकि इन्हें लागू करने वाले संस्थानों को उत्प्रेरक की भूमिका निभानी चाहिये। इस एकीकृत ग्राम्य विकास के लक्ष्य में स्वयंसेवी संस्थाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं (Sachidananda, 1988).

स्वयंसेवी संस्थाएं या गैर सरकारी संस्थाएं (NGOs) का फोकस मुख्यतः आम आदमी की समस्याओं का स्वयंसेवी तौर पर निस्तारण एवं चुनौतियों से निपटने में मदद करना है। इन संस्थाओं का प्रमुख गुण इनका मानवीय पहलुओं से जुड़े होना है। स्वयंसेवियों की निष्ठा, समुदायों से उनके बेहतर संबंध, कार्यक्रमों का लचीलापन, समस्याओं के निस्तारण को लेकर नवोन्मेषी दृष्टिकोण से बेहतर सफलता प्राप्त की जा सकती है। ग्राम्य क्षेत्र में गहरी पैठ बनाने वाली संस्थाएं सामुदायिक विकास में प्रभावी उत्पादकता ला सकती हैं (Paul Choudhary, 1990).

70 के दशक में इस जरूरत को महसूस किया गया। प्रारंभ में धार्मिक संस्थानों की ओर से चलाये जाने वाले शैक्षिक और स्वास्थ्य संस्थानों में जनसहभागिता बढ़ी थी। बाद में विदेशी मदद के सहयोग से कृषि मंत्रालय ने 'Freedom from Hunger Campaign' नाम से अभियान चलाया, जिसका लक्ष्य ग्राम्य विकास से जुड़ी गैरसरकारी संस्थाओं को मदद देना था। इस अभियान को कुछ समय बाद पुनर्गठित किया गया और 'People's Action for Development-India (PAD-I) नाम दिया गया। 1986 में इसे Council for Advancement of Rural Technology में शामिल किया गया और इसका नाम बदलकर Council for Advancement of People's Action and Rural Technology (CAPART) किया गया। तब से कापार्ट ग्राम्य विकास से जुड़ी स्वयंसेवी संस्थाओं को आर्थिक मदद दे रहा है। बीते दो दशकों में गैर सरकारी संस्थाओं की मदद से विकास प्रक्रिया में खासा असर देखा गया है, जिसने राज्य सरकारों को भी जनसहभागिता संबंधी कार्यक्रमों के संचालन को प्रेरित किया है। केन्द्र सहायतित कई योजनाओं में समुदाय आधारित संस्थाओं को नियोजन और कार्यक्रमों को लागू करने में मदद के लिये विकसित किया है।

खेती, स्वरोजगार, कुटीर उद्योग जैसी सुविधाओं के जरिये गांवों में ही अवसरों की उपलब्धता के मकसद से बैंकों से छोटे ऋण उपलब्ध कराने की योजना प्रारंभ की गयी। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने भी सभी बैंकों के लिये यह गाइडलाइन दी कि निर्धन वर्ग द्वारा विकास गतिविधियों के संचालन के लिये 25 हजार रुपये तक लिये जाने वाले लोन के लिये किसी तरह की अतिरिक्त 'सिक्योरिटी' लेने की जरूरत नहीं है। यही वजह रही कि 1995–96 में ढाई अरब से अधिक का लोन बांटा गया। इसमें से 50 प्रतिशत राशि सहकारी समितियों द्वारा, जबकि आधी रकम विभिन्न बैंकों की ओर से ग्रामीणों को दी गयी। फिर भी, चूंकि बैंकों की औपचारिक प्रक्रियाएं अधिकतर ग्रामीणों के लिये सुविधाजनक नहीं थीं। बैंक गांवों से काफी दूरी पर भी स्थित होते थे और वहां से ऋण लेना ग्रामीणों, निर्धन वर्गों के लिये खासा खर्चीला हो जाता था। ऐसे में ग्रामीणों को गांव में ही आर्थिक मदद उपलब्ध कराने के लिये कई गैर सरकारी संस्थाओं के स्तर पर ही बैंकिंग संस्थानों की स्थापना की गयी।

8.7: सतत विकास रणनीति (Strategy for Sustainable Development)

यह जरूरी है कि विकास कार्यक्रम समस्याओं को समझें–जानें, तभी वे संसाधनों और तकनीक की मदद से इन समस्याओं के निदान के विकल्पों को सुझा सकते हैं। कृषि विकास कार्यक्रम में भूमि की गुणवत्ता, पानी की मात्रा, मौसम की परिस्थितियां, उपयोगी और उत्पादक फसलों का चयन जैसे बिंदु सफलता के लिये जरूरी हैं। परियोजना में समयबद्ध रूप से जानकारी देना, वित्तीय व्यवस्था, उत्पादन से अधिकतम लाभ के लिये सक्षम बाजार की उपलब्धता आवश्यक है। इन सब बिंदुओं को बेहतर ढंग से समझने और ग्राम्य विकास में स्वयंसेवी संस्थाओं की मदद मिलती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उत्पन्न करने वाली विभिन्न गतिविधियों को चलाने का पर्याप्त मौका है। इन गतिविधियों को कृषि आधारित और गैर कृषि आधारित गतिविधियों में बांटा जा सकता है। उदाहरण के लिये कृषिप्रधान क्षेत्रों में कृषि आधारित रोजगार उपलब्ध कराने की योजनाएं कारगर हो सकती हैं, क्योंकि वहां के किसानों को इसके लिये आवश्यक संसाधनों और कौशल की जानकारी होती है। हालांकि, भूमि आधारित कार्यक्रमों में सीमित क्षमता ही होती है। ऐसे में कृषि आधारित संभावनाओं के विकास के बाद गैर कृषि संभावनाओं को भी विकसित किया जाना चाहिये, ताकि रोजगार की उपलब्धता सतत बनी रहे। कृषि आधारित गतिविधियों में भूमि सुधार, भूमिक्षरण को कम करना, जल संचय, बंजर भूमि में उत्पादन को बढ़ाना, नयी उत्पादन कृषि तकनीकों का विकास, उत्पादन के बाद बाजार की उपलब्धता जैसे पहलू ध्यान में रखे जाने चाहिये। इसके साथ ही फलोत्पादन, उद्यानिकी, नकदी फसलों, रेशम के कीड़े, मौनपालन जैसी अन्य गतिविधियों को भी इसमें शामिल किया जाना चाहिये, जिनमें बेहतर उत्पादन और रोजगार के अवसर हैं।

Figure 2.

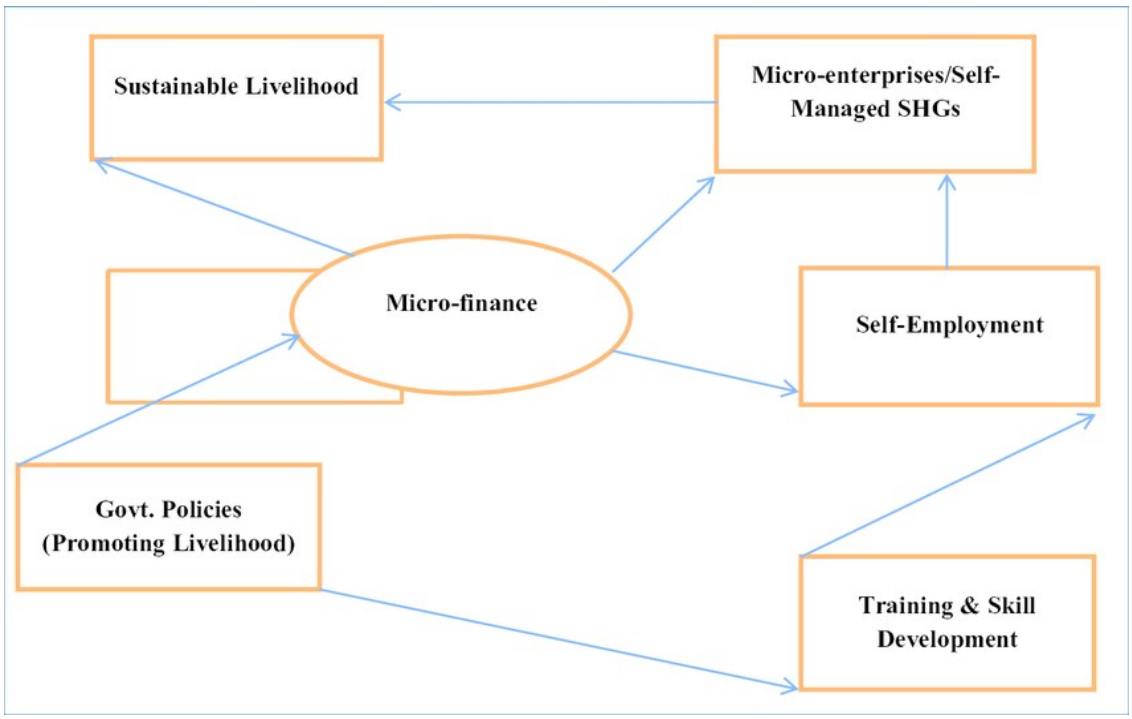

कृषि उत्पादन के लिहाज से कम उपयोगी जमीन पर चारा, ईंधन, गोंद, रबर, मोम, लाख और कागज, आयुर्वेदिक औषधियों के लिहाज से उत्पादन किया जा सकता है। गायों, भैसों, बकरी, भेड़, मुर्गी, सुअर पालन के जरिये दूध, मीट, अंडे, ऊन और अन्य उत्पादों से किसानों को जोड़ा जा सकता है। पशुपालन और कृषि परस्पर संबंधित हैं और कृषि के अन्य विकल्प भी इनमें शामिल कर दिये जायें तो ये किसानों के लिये सतत आर्थिकी का माध्यम बन सकते हैं। बाजारों के विकास से उत्पादन का बेहतर लाभ मिलने की क्षमता को बढ़ाया जा सकेगा। मत्स्य पालन भी नदियों, समुद्र और झीलों के आसपास बसे क्षेत्रों में आजीविका का बेहतर अवसर बन सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में गैर कृषि आधारित रोजगार के अवसर बेहद सीमित होते हैं। हालांकि, स्वयं सहायता समूहों के जरिये छोटी इकाइयां स्थापित की जा सकती हैं। इनमें कृषि सेवा केन्द्र, कृषि उपकरण निर्माण, खाद्य प्रसंस्करण और पैकिंग, वस्त्र निर्माण, हथकरघा, रेशा उत्पादन, हस्तकला आदि शामिल हैं। उद्योगों में रोजगार की सुनिश्चितता की कमी से ग्रामीणों को स्वरोजगार की ओर बढ़ना ही होगा और ऐसे कार्यक्रमों में लोगों की सहभागिता इसमें शामिल गतिविधियों की प्रकृति पर निर्भर करेगी। उपयोगी विकास के लिये कार्यक्रमों का चयन निम्न मापदंडों पर किया जा सकता हैः

1. सामाजिक स्वीकार्यता एवं जनसहभागिता
2. प्राकृतिक संसाधनों एवं बाहरी स्रोतों की उपलब्धता
3. बाहरी तकनीक पर बहुत अधिक निर्भर हुए बिना कार्यक्रम के सफल संचालन का कौशल
4. सहभागी लोगों में कम जोखिम पर कार्यक्रम चलाने की योग्यता
5. उत्पादन की बाजार में मांग और उपलब्धता, विपणन व्यवस्था
6. आर्थिक व्यावहारिकता एवं उच्च लाभ क्षमता
7. वर्षभर रोजगार की उपलब्धता

इस प्रक्रिया में स्थानीय संस्थानों की स्थापना के जरिये लक्षित समूहों में क्षमता का विकास भी आवश्यक है। ये संस्थाएं उत्पादन के विपणन, जरूरी वस्तुओं की खरीद, उत्पादन के बाबत प्रतिक्रिया–सुझाव आदि का काम कर सकते हैं। श्रमिकों की उपलब्धता और उनके शैक्षिक स्तर के अनुसार आवश्यक कौशल का चयन करना भी महत्वपूर्ण बिन्दु है। हालांकि, अधिकतर गांवों में श्रम आसानी से और भारी मात्रा में उपलब्ध होता है, जबकि कृषि आधारित परियोजनाओं के लिये अधिक जटिल कौशल की भी आवश्यकता नहीं होती। ऐसे में श्रम–श्रमिक की उपलब्धता गांवों के लिये महत्वपूर्ण कारक नहीं है, बल्कि लोगों का कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से सहभागी बनना इसकी सफलता के लिये आवश्यक है।

उपरोक्त समस्याओं के निस्तारण के लिये विभिन्न स्तरों पर अवस्थापना विकास, लोगों की जागरूकता, सप्लाई, वित्तीय व्यवस्था, उत्पादन के बाद प्रसंस्करण, विपणन आदि की व्यवस्था जरूरी है। कृषि क्षेत्र में विपणन (Marketing) की ठीक व्यवस्था नहीं होना बड़ी दिक्कत है। किसानों को विभिन्न अनाजों की मांग के प्रति जागरूक होना चाहिये, ताकि उन अनाजों की उपलब्धता सुनिश्चित हो सके, बिचौलियों के बजाय किसानों के लिये सीधे बाजार तक पहुंच बढ़ाना भी जरूरी है। वर्तमान में कृषि विपणन बोर्ड, दुग्ध सहकारी समितियों के जरिये फसलों, अनाजों, कृषि उत्पादन के विपणन की व्यवस्था की जाती है, लेकिन ये राजनीतिक तौर पर संचालित होते हैं। इन सहकारी समितियों में से अधिकतर स्पर्धा के दौर में टिक नहीं

पाते। इसके चलते कुप्रबंधन और उपेक्षा के चलते ये नुकसान में ही चलती हैं, जिसका सबसे बुरा असर इनसे जुड़े किसानों पर पड़ता है।

8.8: उन्नति के लिये जनप्रयास (People's Initiatives for Progress)

Figure 3.

विभिन्न राज्यों में किसानों ने गन्ना, तेल, दूध, फल, सब्जी प्रसंस्करण के लिये सहकारी समितियों की स्थापना की है। पेशेवर प्रबंधन और आधुनिक तकनीक की मदद से इन संस्थानों ने किसानों को आर्थिक स्थिरता देने के साथ बिचौलियों के शोषण से भी मुक्त रहने में मदद की है। देशभर में ऐसे संस्थानों को और अधिक मजबूत करने की दिशा में प्रयास चल रहे हैं। राष्ट्रीय स्तर पर चल रहे जल संसाधन विकास कार्यक्रम में गैर सरकारी संस्थाओं की सहभागिता ने जल प्रबंधन की दिशा में लोगों को जागरूक और प्रोत्साहित किया है। इनके जरिये योजना–परियोजनाओं का निर्माण और क्रियान्वयन किया जा रहा है। इस कार्यक्रम ने बेहतर पेयजल वितरण व्यवस्था के साथ जल और ऊर्जा स्रोतों के संरक्षण को लेकर उल्लेखनीय उपलब्धि हासिल की है। अन्य क्षेत्रों में भी इसी तरह जन संगठनों को प्रोत्साहित करने, आवश्यक अवस्थापना विकास के जरिये आर्थिक समृद्धि हासिल की जा सकती है। जनसहभागिता, स्वयंसेवी समूहों के प्रोत्साहन के कार्यक्रम नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) और स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना (SGSY-1999) में शामिल किये गये। स्वयं सहायता समूह (Self Help Group) में सामाजिक–आर्थिक रूप से पिछड़े समूहों के दस से बीस लोग जुटकर अपनी बचत जमा करते हैं और इस रकम को किसी जरूरतमंद को लोन के तौर पर दिया जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान ये लोग अपनी विभिन्न समस्याओं पर चर्चा करने के साथ इनके समाधान के रास्ते भी तलाशते हैं। सरकार के स्तर पर ऐसे अभियानों को पूरा सहयोग दिया जाता है, जो भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में सतत विकास प्रक्रिया को बढ़ावा देने और ग्रामीणों के जीवनस्तर में अपेक्षित सुधार की दिशा में कारगर है।

8.9: मूल मुद्दे एवं चुनौतियां (Key Issues and Challenges)

निर्धनता के आयामों का समग्र मूल्यांकन क्षेत्रवार एवं राष्ट्रीय स्तर पर करें तो स्पष्ट होता है कि पर्वतीय क्षेत्रों में विकास से जुड़े मुद्दे और उनकी चुनौतियां इन क्षेत्रों में विभिन्न भौतिक एवं स्थलीय गुणों, परंपराओं, जैविक संसाधनों की उपलब्धता, इतिहास–संस्कृति और प्रशासनिक व्यवस्थाओं आदि के लिहाज से विविधता भरी होती हैं। विभिन्न देशों में भी ये अलग–अलग होते हैं।

8.10: नीतियां (Policies)

- पर्वतीय क्षेत्रों के दृष्टिकोण से देखें तो, पहुंच में मुश्किल, उपेक्षा, विविधता, नाजुक पारिस्थितिकी आदि के चलते यहां पर्वतीय क्षेत्रों के लिये संवेदनशील नीतियों के निर्माण की जरूरत है। यह न सिर्फ पर्वतीय समुदायों की ओर उपेक्षा की स्थिति में सुधार लायेगा, बल्कि पर्वतीय क्षेत्रों में तुलनात्मक रूप से विकास कार्यों के जरिये सामाजिक समानता के उद्देश्य को भी पूरा कर सकेगा।

- हिन्दूकुश–हिमालयी (HKH) क्षेत्र के पर्वतीय क्षेत्रों में निर्धनता की स्थिति से निपटने के लिये विस्तृत रणनीति की आवश्यकता है जो आर्थिक विकास, सामाजिक समानता, भावी पीढ़ियों के लिये बेहतर अवसर, पर्यावरणीय सततता जैसे विषयों पर दृढ़तापूर्वक काम कर सके। यहां यह जरूरी है कि पर्वतीय क्षेत्रों के विकासपरक मुद्दों की ठीक से पहचान हो, जिनमें संबंधित लोगों के जीवनस्तर, निर्धनता, पर्वतीय कृषि, पर्यावरण आदि मुद्दों को एकीकृत दृष्टिकोण से देखा जा सके।

- पर्वतीय विकास कार्यक्रमों के सफल संचालन के लिये राष्ट्रीय एवं स्थानीय स्तर पर बेहतर तालमेल आवश्यक है। इस प्रक्रिया में विभिन्न हितधारकों की भूमिका की पहचान की जानी जरूरी है, ताकि गैर सरकारी संस्थाओं की मदद से उपेक्षा संबंधी मसलों को हल किया जा सके। उदाहरण के लिये समुदाय आधारित बैंकिंग और वनोत्पादन उपयोग। निजी क्षेत्रों और नागरिक समितियों की सहभागिता ने भी नवोन्मेषी प्रक्रियाओं के जरिये लोगों की समस्याओं के समाधान की दिशा में मदद की है। चारागाह, वन और जल जैसे सीमामुक्त संसाधनों के उपयोग के लिये समन्वय की नीतियों का निर्माण किया जाना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये परस्पर सहयोग और प्रतिद्वंद्विता मुक्त तंत्र के निर्माण की आवश्यकता महसूस होती है।

- ग्रासरूट स्तर पर जरूरतों की पहचान और इन्हें पूरा करने के लिये क्षमताओं के विकास के लिये नीतियों का निर्माण होना चाहिये जो विभिन्न क्षेत्रों में लोगों को सहभागिता के लिये प्रेरित और प्रोत्साहित करे। शोध और विकास कार्यों, विपणन के अवसर, पारंपरिक ज्ञान को सहेजने, आदिवासी और पारंपरिक समुदायों के ज्ञान पर बौद्धिक स्वामित्व अधिकार को प्रोत्साहन देना जरूरी है। पर्वतीय विकास नीतियों में स्थानीय शक्तियों की पहचान, विविधताओं और इन सबके बीच जनसहभागिता को बढ़ावा देने की जरूरत है।

- पर्वतीय समुदायों में अकसर जमीन, वन पर स्वामित्व अधिकार और आर्थिक, शैक्षिक व स्वास्थ्य संबंधी सेवाओं तक पहुंच की कमी की दिक्कतें सामने आती हैं। इसकी बड़ी वजह इन क्षेत्रों का दूरस्थ एवं दुर्गम होना तो है ही, नीति नियामक संस्थाओं के भी अप्रासंगिक प्रतिनिधित्व भी कारण है। ऐसे में सेवाओं–सुविधाओं के समान वितरण, अवस्थापना विकास, अवसरों और संसाधनों की समान उपलब्धता सुनिश्चित करना आवश्यक होता है।

8.11: पर्वतीय कृषि एवं जीवनस्तर की विविधता (Mountain Agriculture and Diversification of Livelihoods)

- पर्वतीय क्षेत्रों में कृषि (विशेषकर अनाज उत्पादन) पर्वतीय लोगों के लिये भी अपर्याप्त होती है। पर्वतीय किसानों को नुकसान झेलना पड़ता है, जो इन क्षेत्रों में कृषि की ओर लोगों का झुकाव कम होने की वजह है। कृषि से इतर गतिविधियों में भी पर्वतीय लोगों का जुड़ना पुराने समय से ही आवश्यक बना रहा है। हालांकि, बदलते समय के साथ ये तरीके भी कमतर होते जा रहे हैं।

- पर्वतीय लोगों के पास उपलब्ध बेहद सीमित अवसरों को देखते हुये यह महसूस किया जाने लगा है कि अनुपयोगी और उपेक्षित जमीनों की भविष्य में खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित करने में बड़ी भूमिका होगी। ऐसे में पर्वतीय क्षेत्रों में विकेन्द्रीकृत एवं नवोन्मेषी दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

- हिन्दूकुश–हिमालयी क्षेत्र में विभिन्न क्षेत्रों में कृषि कार्यों का रूपांतरण कारगर साबित हुआ है। सड़कों, बाजारों, सहयोगी सेवाओं के विकास से पहुंच बढ़ी है, फसलों की विविधताओं, औद्यानिकी और अन्य उच्च नगदी फसलों के जरिये लोगों को लाभ भी मिला है। पशुधन की गुणवत्ता में उल्लेखनीय बदलाव देखे गये हैं। हालांकि खाद्य सुरक्षा की दिशा में खाद्य की उपलब्धता, क्रयशक्ति और सक्षम वितरण व्यवस्था के विकास के बिना विविधता को पा सकना संभव नहीं है।

- कृषि कार्यों से जुड़े आर्थिक सुधारों का अध्ययन सावधानी से किया जाना चाहिये। उपेक्षित किसानों को कृषि के बेहतर विकल्प देना, बाजार की व्यवस्था, सामाजिक समानता मूल बिन्दु हैं।

- हिन्दूकुश–हिमालयी क्षेत्रों में पर्यटन विकास रोजगार और बेहतर जीवनस्तर का जरिया बना है। पर्यटन के सामाजिक और पर्यावरणीय पहलू भी उभरते हैं, जिनमें ईंधन की लकड़ी की बढ़ी मांग, पर्वतीय क्षेत्रों में निर्माण की अधिकता, कचरा, भूउपयोग में परिवर्तन और सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव आदि शामिल हैं।

- पर्वतीय क्षेत्रों में कौशल आधारित उद्यमों के विकास की संभावनाएं हैं। हालांकि, इसके लिये नीतियों का पर्वत आधारित होना और उद्यमों का परिवर्तन की ओर उद्यत और मूल्य आधारित होना जरूरी है। बाजार, उत्पाद की मांग के अनुरूप उत्पादन, एकीकृत नीतियां आदि आवश्यक बिन्दु हैं।

- खेती के लिये अनुपयुक्त मौसम के दौरान पर्वतीय क्षेत्रों में प्रेषित धन जीवन के लिये बुनियादी जरूरतें जुटाने में अहम भूमिका निभाता है। यह धन पर्वतीय क्षेत्रों से पलायन कर बाहर गये लोगों द्वारा भेजा जाता है। पलायन की स्थिति में बदलाव (अस्थायी से स्थायी की ओर और एकल से पूरे परिवार के पलायन तक) के लिहाज से यह देखना भी आवश्यक है कि बाहर से आने वाला धन

आगे भी इसी तरह आता रहेगा या नहीं। पर्वतीय लोगों के लिये ऐसा कितना धन जरूरी है, यह भी अध्ययन होना जरूरी है

8.12: खाद्यान्न अभाव, प्राकृतिक आपदाएं, विपत्तियां, जोखिम (Food Deficit, Natural Hazards, Adversities, Risks and Vulnerability)

- बढ़ती जनसंख्या, घटते संसाधन एक बड़े संकट की ओर इशारा करते हैं। पर्वतीय किसानों के लिये प्राकृतिक आपदाएं, खाद्य संकट, भूमिहीनता, संक्रामक रोग, कीट, महामारी जैसे जोखिम बढ़ते जा रहे हैं। हालांकि, ये समस्याएं पर्वतीय लोगों के लिये नयी नहीं हैं, लेकिन इनके चलते पर्वतीय लोगों पर होने वाले असर में बढ़ोतरी पहले के मुकाबले कहीं अधिक हो चुकी है।

- हिन्दूकुश–हिमालयी क्षेत्रों में हाल के दौर में देखा गया महत्वपूर्ण परिवर्तन जनसांख्यिकी आधारित है। यहां अपेक्षाकृत युवा आबादी बढ़ी है और पुरुष आबादी बड़ी संख्या में नगद आय की तलाश में शहरों की ओर पलायन कर रही है। इस नये रुझान से पर्वतीय क्षेत्रों में पुरुषों की संख्या में खासी कमी आयी है, जिसके चलते कृषि संबंधी कार्यों का बोझ भी महिलाओं पर आ गया है। दूसरी ओर, इस क्षेत्र के कई इलाकों में मैदानी क्षेत्रों से लोगों का पर्वतीय क्षेत्रों की ओर पलायन भी दर्ज किया जा रहा है। इसके चलते कई क्षेत्रों में आदिवासी और पारंपरिक समुदायों के नवागंतुकों के साथ पारंपरिक और सांस्कृतिक टकराव बढ़ने से सामाजिक स्तर पर बेचैनी देखी जाती है।

- यद्यपि फसली भूमि के विस्तार के साथ कृषि सघनता भी बढ़ रही है, लेकिन छोटे किसानों के लिये अब भी कृषि तकनीकों, जैसे– खाद, बीज और अन्य सेवाओं, तक पहुंच आसान नहीं है। इसके चलते उत्पादन में गिरावट भी दर्ज की जाती है।

- कुछ पर्वतीय समुदायों (जैसे चरवाहे) के अपने जीवनस्तर में सुधार के प्रति जागरूकता बढ़ी भी है, लेकिन उनके संसाधनों के स्रोत लगातार घट रहे हैं। आधुनिकीकरण के दौर में पर्वतीय समुदायों की जरूरतें और इच्छाएं भी बढ़ रही हैं, लेकिन उनके पास उपलब्ध संसाधन इसके मुकाबले कम होते जा रहे हैं।

- कुछ देशों में ऊर्जा उपयोग, भौतिक और सामाजिक अवस्थापना विकास पर सब्सिडी का प्रावधान किया गया है। लेकिन, इस व्यवस्था को कब तक, कितनी सीमा तक विस्तार दिया जा सकता है और इनके जरिये कितने स्तर तक सतत विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है, इन सवालों का परीक्षण करने की जरूरत है।

8.13: पहुंच के अवसर, पर्वतीय–मैदानी क्षेत्रों के संबंध और वैश्वीकरण के प्रभाव (Accessibility, Highland-Lowland Linkage and Impact of Globalization)

- वृहद् बाजारी अर्थव्यवस्था से पर्वतीय क्षेत्रों का अलगाव समाप्त होने के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह के असर पर्वतीय समुदायों के जीवनस्तर, आजीविका और संस्कृति पर नजर आते हैं। हालांकि, पर्वतों और मैदानी क्षेत्रों के मजबूत संपर्कों–संबंधों की वजह से पर्वतीय क्षेत्रों को पूरी तरह अलग नहीं माना जाना चाहिये, लेकिन यहां जरूरत इन दोनों के बीच के विभिन्न जुड़ावों की पहचान करने की है, ताकि पर्वतीय क्षेत्रों को तुलनात्मक रूप से लाभान्वित किया जा सके।

- मैदानी क्षेत्र के लोगों द्वारा पर्वतीय संसाधनों के अत्यधिक उपभोग का इन लोगों को कोई मुआवजा तो मिलता नहीं है, लेकिन यह भी आशंका बढ़ गयी है कि वैश्वीकरण और संपत्ति अधिकारों में बदलाव के चलते वे भविष्य में उपेक्षित किये जा सकते हैं। ऐसे में पर्वतीय क्षेत्रों में वहां की उपयोगिता के अनुरूप उत्पादन की क्षमता को पहचानने की जरूरत है, जिससे लाभ मिल सके।

- परंपराओं और आधुनिक व्यापारिक संपर्कों के जरिये पर्वतीय समुदायों में बदलाव देखा जा रहा है। इन परिवर्तनों का उपयोग पर्वतीय क्षेत्रों के विकास, वहां रहने वाले समुदायों की सतत आजीविका, सामाजिक–आर्थिक अवसरों की समानता के लिये किया जा सकता है, लेकिन यहां ऐसी नीतियों–मानकों को लागू करना भी आवश्यक है, जिससे संसाधनों के अंधाधुंध दोहन, अनुचित कार्यशैलियों पर नजर रखी जा सके।

8.14: प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन एवं शासन (Governance and Management of Natural Resources)

- शासन के स्तर पर संसाधनों के प्रबंधन की उचित नीतियों और व्यवस्था के अभाव में प्राकृतिक संसाधनों के मसले पर सरकार और पारंपरिक समुदायों, आदिवासी समुदायों के बीच परस्पर विरोधी भावनाएं उभरती हैं।

- वन उत्पादों के व्यावसायीकरण से पर्वतीय समुदायों के जीवनस्तर और आजीविका के संसाधनों में बढ़ोतरी की जा सकती है। इस प्रक्रिया में राज्य की भूमिका संसाधनों में संतुलन बनाये रखने और पर्वतीय समुदायों को वनोत्पादों के व्यावसायीकरण के लिये आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध कराने की होनी चाहिये।

- प्राकृतिक संसाधनों से पर्वतीय समुदायों के हित सर्वाधिक जुड़े होते हैं, क्योंकि उनका अस्तित्व ही इनसे जुड़ा होता है। ऐसे में प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन में पर्वतीय समुदायों की अहम भूमिका होनी चाहिये। राज्य के स्तर पर समुदायों की जरूरतों और चिंताओं को समझते हुये नियंत्रण, पुनरुत्पादन और सतत उपयोग में उनकी भूमिका तय करनी चाहिये।

- समस्या न सिर्फ प्राकृतिक संसाधन संपदा को निरंतर हो रहे नुकसान की है, बल्कि समुचित प्रबंधन के अभाव की भी है। पर्वतीय क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग के लिये पारदर्शी और व्यवस्थित नीतियों के निर्माण की आवश्यकता है। साथ ही संसाधनों के पुनरुत्पादन के लिये निवेश बढ़ाने की भी जरूरत है।

8.15: भूउपयोग एवं स्वामित्व मामले (Land Use and Tenuruial Issues)

- राजनैतिक अव्यवस्थाएं अकसर पर्वतीय क्षेत्रों में अनिच्छित भूउपयोग परिवर्तन और प्राकृतिक संसाधनों के ह्रास की वजह बनती हैं। शांति और राजनीतिक स्थिरता तर्कसंगत एवं समान भूउपयोग को जरूरी है।

- कई क्षेत्रों में भूस्वामित्व वितरण और भूमि सुधार प्रक्रियाएं अप्रभावी सिद्ध हुयी हैं, जो अक्षम एवं असमान भूउपयोग की वजह बनता है।

- अस्पष्ट भूमि अधिकार एवं अनुपयुक्त भूउपयोग नीतियों के चलते ऐसे भूउपयोग के तरीके सामने आते हैं, जो जैवविविधता और पर्वतीय पर्यावरण के लिये घातक होते हैं।

- बाजार आधारित सुधारों के जरिये जमीनों के मूल्य तय करने से कुछ हद तक भूउपयोग की समस्या का हल निकाला जा सकता है। लेकिन, उच्च पारदर्शिता और भूमि स्वामित्व अधिकार के लिये नीतियों में सुधार की जरूरत है, ताकि आर्थिक और पर्यावरणीय लिहाज से बेहतर भूउपयोग तय किया जा सके।

8.16: लैंगिक एवं सामाजिक समानता (Gender and Social Equity)

- हिन्दूकुश हिमालय क्षेत्र में अलग–अलग स्थानों पर रहने वाली पर्वतीय महिलाएं समान चुनौतियों का सामना करती हैं। इनमें उत्पादक संसाधनों, भूमि का अभाव, सामाजिक सेवाओं और औपचारिक नगदी की कमी शामिल हैं। इनके अलावा उन पर काम का अत्यधिक बोझ रहता है, उत्पादन व्यवस्था एवं इनसे मिलने वाले लाभ पर उनका सकारात्मक नियंत्रण नहीं रह पाता, जिसके चलते वे स्वास्थ्य के लिहाज से कमजोर रहती हैं। ऐसी स्थिति में नीति निर्माण के दौरान घर के अंदर की निर्धनता को समझना बहुत आवश्यक है, जिससे निपटकर गरीबी उन्मूलन की दिशा में कदम बढ़ाया जा सकता है

- पुराने समय में लैंगिक समस्याओं को वृहद विकास नीतियों में उपयुक्त स्थान नहीं दिया जाता था। इससे समाज में महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिये अलग से कार्यक्रम तय ही नहीं हो पाते थे। हालांकि, समय के साथ आये परिवर्तनों के बाद इस स्थिति में भी अंतर आया है। अब लैंगिक समानता, महिलाओं की जरूरतें और उनका समाधान विकास कार्यक्रमों का अहम हिस्सा बन चुका है।

- आर्थिक गतिविधियों की विविधताओं तथा नयी तकनीकों के विस्तार ने सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों में खासा सुधार किया है, जिससे कुछ क्षेत्रों में महिलाओं के कार्यबोझ एवं कठिन परिस्थितियों में कमी आयी है। लेकिन, कई मामलों में बदलाव के बावजूद कार्यभार बढ़ जाता है। उदाहरण के लिये, फसली उत्पादन के बजाय सब्जी उत्पादन को बढ़ावा और पशुपालन को प्रोत्साहन से महिलाओं की आर्थिक स्थिति में सुधार तो आया है, लेकिन उनका बोझ भी बढ़ा है। इसी तरह बिजली और भोजन पकाने के बेहतर उपकरणों ने बोझ कम किया है, लेकिन पशुओं के लिये चारे की व्यवस्था से कार्यभार बना हुआ है।

8.17: विकास और गरीबी उन्मूलन के लिये क्षेत्रवार नीतियां (Sectoral Strategies and Policies for Growth and Poverty Alleviation)

यहां हम पर्वतीय क्षेत्रों में अवसरों की संभावनाओं तथा सतत विकास, आवश्यक कारकों, समान वितरण और परिणामतः मिलने वाले लाभों पर विस्तार से चर्चा करेंगे। इसे ठीक से समझने के लिये हमने इकाई के इस

हिस्से को तीन भागों, आर्थिक अवसर एवं विकल्प, भूमि व्यवस्था और प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन तथा पहुंच के अवसर, समानता और अंतर्संबंध में बांटा है।

आर्थिक अवसर एवं विकल्प Economic opportunities and options

पर्वतीय क्षेत्रों में कृषि विविधताः यह बात अब मानी जाने लगी है कि पर्वतीय किसानों की आजीविका में सुधार, सतत विकास के लिये पर्वतीय कृषि में विविधता को शामिल किया जाना बेहतर कदम हो सकता है। इस प्रक्रिया के लिये विशेष पर्वतीय क्षेत्रों की कृषि क्षमताओं को पहचानने और वहां के अनुरूप कृषि नीतियों के निर्माण की आवश्यकता है। कृषि विविधता की प्रक्रिया में कृषि, औद्यानिकी, पशुधन की व्यवस्था में उच्च तकनीक एवं नयी गतिविधियों को शामिल किया जाता है। इससे बाजार और मांग के अनुरूप कृषि को बढ़ावा दिया जाता है, जिसका मुख्य उद्देश्य पर्वतीय क्षेत्रों से निर्धनता को दूर करना और गैर कृषि कार्यों में रोजगार, प्राकृतिक संसाधनों की सततता और आय के साधनों में बढ़ोतरी है। इस प्रक्रिया के आवश्यक कारकों में निम्नवत शामिल हैंः

- भौतिक और सांस्थानिक अवस्थापना की स्थानीय स्तर पर उपलब्धता
- ऋण, कृषि तकनीक, प्रशिक्षण–सूचनाओं जैसी सहायक सुविधाओं तक पहुंच
- बाजार की मांग, तुलनात्मक रूप से लाभकारी उत्पादों और उत्पादों के विपणन की बेहतर जानकारी, जिससे विशेषकर छोटे किसानों को लाभान्वित किया जा सके
- उचित दामों पर भोजन की उपलब्धता, और
- भूमि क्षरण, कीटों, प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन, जैवविविधता पर खतरे जैसी पारिस्थितिकीय समस्याओं से निपटने के तरीके

नयी तकनीकों के उपयोग पर जोर देने के दौरान यह ध्यान देना आवश्यक है कि पर्वतीय समुदायों के लिये इस तरह की तकनीकों तक पहुंच आसान नहीं होती। इसके अलावा ये लैंगिक विभेद और असमानता की स्थिति को और अधिक बढ़ावा दे सकते हैं। हालांकि, पर्वतीय विशिष्टताओं के संबंध में पर्यावरणीय संवेदनशील नीतियों का निर्माण, संस्थानों की उपलब्धता पर्वतीय समुदायों को तकनीक और लाभ के लिहाज से मदद कर सकती हैं।

8.18: पर्वतीय उद्यम विकास (Mountain Enterprises Development)

उद्यम वह गतिविधि है, जिसका मकसद उत्पाद को बाजार में बेचकर नगद आय कमाना हो। पारंपरिक उद्यमों, उद्यमियों और बाजार से संबंधों की पुरानी व्यवस्था रही है। छोटे पर्वतीय उद्यमियों के लिये गतिविधियों का बहुत छोटा स्तर बड़ी चुनौती रहा है। प्रसंस्करण (Processing) और गुणवत्ता संवर्द्धन के कारण एक ही तरह के संसाधन पर अलग–अलग उत्पादक की पहुंच जरूरी हो जाती है। ऐसे में उद्यमों का वर्गीकरण, उत्पाद की गुणवत्ता और क्षमता का बिन्दु अहम हो जाता है। तकनीकी विकास की मदद से

उत्पाद पूर्व प्रक्रिया से लेकर बाजार में विपणन के बाद मूल्यांकन तक की क्षमता बढ़ी है। किसी उद्यम में परिवर्तन और सुधार के लिये विभिन्न विकल्पों, चुनौतियों से जूझकर आर्थिक और वित्तीय बढ़ोतरी का रास्ता निकलता है। इसमें ऊर्जा स्रोतों के बेहतर इस्तेमाल, समुचित तकनीक की उपलब्धता और मांग के अनुरूप उत्पाद व उत्पादन व्यवस्था की विविधता का ध्यान रखना आवश्यक है। खाद्य सुरक्षा, अनाजों की उपलब्धता पर्वतीय क्षेत्रों में उद्यम विकास के लिये पूर्व आवश्यक हैं। शांति, स्थिरता, सामंजस्य, प्रभावी सहायक सुविधाएं जैसे अन्य कारकों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। सिर्फ बाजार ही पर्वतीय क्षेत्रों में उद्यम विकास का इकलौता साधन नहीं है। राज्य के स्तर पर निरंतर समर्थन आवश्यक है। भूमि स्वामित्व जैसे कानूनी पहलुओं में स्पष्ट नीतियों का होना जरूरी है, जिसमें पर्वतीय क्षेत्रों के लाभ और हितों का ध्यान रखा गया हो। सामान्य छूट के बजाय चयनात्मक समर्थन आवश्यक है, ताकि पर्वतीय क्षेत्रों के विशेष उत्पादों को बढ़ावा दिया जा सके। यहां राज्य की भूमिका क्षेत्र विशेष तक पहुंच, विशेष उद्यम विकास की संभावनाओं में वृद्धि करने, संकट के दौर में सुरक्षा प्रदान करने, बेहतर ऋण एवं प्रशिक्षण सुविधा देने, बाजार में विपणन में मदद करने और गुणवत्ता सुनिश्चित करने की है।

8.19: वनोत्पादों का व्यावसायीकरण (Commercialization of Forest Products Livelihoods)

वनोत्पादों, विशेषतः गैर काष्ठ वनोत्पाद (Non Timber Forest Products: NTFP), में पर्वतीय समुदायों की सतत आजीविका उपलब्ध कराने की क्षमता है। हालांकि, अंधाधुंध दोहन की आशंकाओं को देखते हुये वनोत्पादों के सतत विकास को लेकर उपयुक्त नीतियों को लागू किये जाने की जरूरत भी होती है। इन नीतियों का फोकस वनोत्पादों की बुनियादी जरूरतों के मूल्यांकन, वनोत्पादों के सतत विकास को लेकर प्रोत्साहन और उत्पादकों को लाभ सुनिश्चित कराना होना चाहिये। यहां वनोत्पादों के व्यावसायीकरण के लिये पर्वतीय समुदायों की नकदी, ऋण, तकनीक, प्रसंस्करण, गुणवत्ता संबंधी सुविधाओं तक पहुंच महत्वपूर्ण कारक है। इसके साथ ही संसाधनों के पुनर्विकास और खतरे में पड़ चुकी प्रजातियों के संरक्षण के प्रति जागरूकता भी जरूरी होती है।

पर्वतीय और मैदानी क्षेत्रों के असमान आर्थिक स्तर, पवतीय क्षेत्रों में वन संसाधनों के जरूरत से अधिक दोहन के चलते पर्वतीय समुदायों के लाभ के लिये प्रोत्साहन योजनाओं की यहां अहम भूमिका हो जाती है। ऐसी स्थिति में बाहरी लोगों द्वारा उपयोग से पर्वतीय समुदाय के लाभ के प्रावधान मददगार हो सकते हैं। इसमें वनोत्पादों से लाभान्वित होने वाले लोगों की ओर से योगदान, वैकल्पिक ऊर्जास्रोतों के लिये सब्सिडी योजनाएं भी शामिल हैं। इसी तरह पर्वतीय लोगों के लिये सामुदायिक संस्थानों की स्थापना की आवश्यकता है, ताकि उनमें सहयोग, विश्वास और आर्थिक स्थिरता की भावना बने और बिचौलियों की संख्या घटती जाये। समुदायों में सामाजिक–आर्थिक भूमिका निभाने की क्षमता का भाव विकसित करना आवश्यक है। व्यावसायिक प्रक्रिया में कुछ सामाजिक और सांस्थानिक मसले भी जुड़ जाते हैं, जिन पर ध्यान देना बहुत जरूरी होता है। अवसरों पर पहुंच और लाभ पर नियंत्रण के लिहाज से लैंगिक समानता, सामाजिक जिम्मेदारी और वनोत्पादों पर सांस्कृतिक–धार्मिक अधिकारों के प्रति संवेदनशीलता ऐसे अहम बिन्दु हैं।

उपेक्षित समुदायों को व्यावसायीकरण की प्रक्रिया से अधिकतम लाभ दिलाने के लिये काम करने वाली सरकारी संस्थाओं को ऐसी साझी प्रक्रिया का निर्माण करना चाहिये, जिसमें समुदायों को प्रोत्साहन मिले।

ऐसे पारंपरिक संस्थान, जिनका वनों, वन संसाधनों के संरक्षण में योगदान रहा है, उन्हें शक्तिसंपन्न बनाना चाहिये। ऐसी संस्थाएं किसी अंतर्विरोध की स्थिति में समाधान तलाशने की दिशा में बेहतर भूमिका निभा सकती हैं। लाभ पाने की दिशा में नयी संभावनाओं की तलाश, विकल्पों के विकास के लिये शोधकार्यों की आवश्यकता होती है, जिसमें ग्रामीणों, ग्रामीण महिलाओं के पारंपरिक ज्ञान का समावेश हो। राज्य के स्तर पर ऐसे शोधकार्यों को आर्थिक मदद दी जानी चाहिये, क्योंकि यह जानकारियों के दस्तावेजीकरण में मददगार हैं और इनके जरिये समुदायों की बौद्धिक संपदा के अधिकार को भी सुनिश्चित करना संभव है।

8.20: पर्वतीय पर्यटन (Mountain Tourism)

इको टूरिज्म, तीर्थयात्राएं, अभ्यारण्य, संरक्षित क्षेत्र और सांस्कृतिक पर्यटन आदि क्षेत्रों में पर्वतीय पर्यटन विकसित हो सकता है। हिन्दूकुश हिमालय क्षेत्र में उपरोक्त बिन्दुओं के अलावा पर्यटन का एक अन्य पहलू रोमांच (Adventure) भी है, जिसमें ट्रेकिंग, पर्वतारोहण अभियान आदि शामिल होते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में सतत पर्यटन के लिये प्राकृतिक संरक्षण के अलावा पर्वतीय संस्कृति, विविधता को बचाये रखना भी बेहद आवश्यक है। विभिन्न पर्वतीय समुदायों और पर्वतीय पर्यावरण में पर्यटन विकास के प्रभाव भी विविध देखे जाते हैं। पर्यटन को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अहम कारक माना जाता है, लेकिन स्थानीय अर्थव्यवस्था में अब भी इसकी संबद्धता काफी कम है। पर्वतीय पर्यटन में भी बाजारी रणनीति का अभाव साफ नजर आता है। ऐसे में स्थानीय समुदायों को कमजोर अवस्थपनाओं और संस्थानों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इससे पर्यटन व्यवस्था को संगठित करना और इस पर निगरानी करना मुश्किल होता है। पर्वतीय पर्यटन सुरक्षा, प्राकृतिक आपदाओं जैसे बाहरी कारकों से भी प्रभावित होता है। इसके अलावा बेहतर पर्यटन विकास के लिये ऐसे प्रशिक्षित लोगों की जरूरत होती है, जो स्थानीय परिवेश, पर्यावरण, संस्कृति की पूरी जानकारी रखते हों और पर्यटकों को इनकी बेहतर जानकारी दे सकें।

8.21: भूमि एवं प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन (Land System and Natural Resource Management)

भूमि व्यवस्था एवं भूमि स्वामित्व

निजी एवं सामुदायिक स्वामित्व अधिकार की इसमें अहम भूमिका है, जिनसे गरीबी उन्मूलन, आर्थिक विकास, लैंगिक समानता, सतत संसाधन प्रबंधन के उद्देश्यों की पूर्ति संभव हो सकती है। चारागाहों, जंगलों पर पर्वतीय समुदायों की पहुंच के अधिकार को सुनिश्चित करने की प्रक्रिया प्रभावी हो सकती है। यह उन उपेक्षित किसानों के लिये महत्वपूण है, जिनकी आजीविका संसाधनों पर उनकी बेहद कम पहुंच पर ही निर्भर करती है। हालांकि, बदलते दौर में पर्वतीय समुदायों के सामने निजी स्वामित्व की समस्या भी खड़ी होती जा रही है। यहां राज्य के स्तर पर उपेक्षित समूहों, विशेषतः महिलाओं, के स्वामित्व अधिकार को सुनिश्चित करने के लिये नीतियों का निर्माण आवश्यक होता है। भूमि सुधार को प्रभावी तौर पर लागू करना गरीबी उन्मूलन, सतत संसाधन प्रबंधन और समानता की दिशा में महत्वपूर्ण है। हालांकि, भूमि पर निर्माण–स्वामित्व संबंधी नीतियों को सख्ती से लागू करने में राज्य की ओर से नये भूमि सुधारों को लागू करने की दृढ़ इच्छाशक्ति संदेहास्पद रहती है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अधिकर पर्वतीय क्षेत्रों में भूमि स्वामित्व संबंधी पारंपरिक नियम हाल तक लागू रहे हैं। प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन की परंपरिक व्यवस्थाओं में ह्रास से कई पर्वतीय समुदाय आजीविका संबंधी परेशानियों से जूझ रहे हैं, क्योंकि नये नियम और निजी स्वामित्व अधिकारों ने प्राकृतिक संसाधनों तक उनकी पहुंच को बेहद सीमित कर दिया है, जिससे उनके अस्तित्व पर भी खतरा बढ़ने लगा है। इससे न सिर्फ छोटे किसानों की आमदनी पर असर पड़ा है, बल्कि भूमि वितरण और प्राकृतिक संसाधनों में भी कमी आयी है। ऐसे में सामुदायिक संस्थानों को आजीविका और संसाधन प्रबंधन के अधिकार दिया जाना आवश्यक है। इसके जरिये समानता, स्वामित्व अधिकार, भूमि संसाधनों पर बाहरी नियंत्रण से सुरक्षा को भी हासिल किया जा सकता है। सामूहिक भूमि उपयोग पारंपरिक नियमों का ही विस्तार है, इसके लिये प्रोत्साहन और नियंत्रण की आवश्यकता के साथ समान लाभ वितरण की जरूरत है। यहां यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि सामूहिक भूमि उपयोग सिर्फ इकलौते रूप में लाभ देने में सक्षम नहीं होता। कई बार अन्य संसाधनों–सुविधाओं के अभाव में कम उत्पादन, संसाधनों के अनुचित दोहन, ग्रामीण आभिजात्य के प्रभुत्व, निवेश–प्रोत्साहन का अभाव जैसी समस्याएं भी सामने आती हैं।

हिन्दूकुश हिमालयी क्षेत्र में व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवस्थाओं के प्रयास एकसाथ, एक ही समय पर होता नजर आते हैं। फिर भी प्राकृतिक संसाधनों के दुरुपयोग को रोकने, नियमित निगरानी तंत्र, स्पष्ट प्रोत्साहन नीति, नियंत्रण व्यवस्था भी आवश्यक हैं। राज्य को ऐसे भूमि स्वामित्व कानून लागू करने चाहिये, जो शक्तिशाली समूहों, व्यक्तियों को प्राकृतिक संसाधनों के अनुचित दोहन से रोकने में सक्षम हों। सभी हितधारकों एवं प्राथमिक उपभोगकर्ताओं के अधिकारों का निर्धारण करना आवश्यक है। सामूहिक भूमिक उपयोग का लाभ तभी मिल सकता है, जब स्थानीय संगठन शक्तिशाली हों और पूरी प्रक्रिया विकेन्द्रीकृत व्यवस्था से जुड़ी हुयी हो।

वन प्रबंधन

बीते कुछ दशकों में वन प्रबंधन के क्षेत्र में सामुदायिक सहभागिता का रुझान बढ़ा है, यहां तक कि राज्य संचालित प्रबंधन के बजाय इसे अधिक महत्व दिया जाने लगा है। संयुक्त वन प्रबंधन, सामुदायिक वानिकी प्रबंधन, सामाजिक वानिकी, वन उपभोगकर्ता समूह आदि स्वरूपों में समुदाय और संगठन हिन्दूकुश हिमालयी क्षेत्र में वन प्रबंधन के काम में लगे हुये हैं। कई मामलों में यह भी देखा गया है कि इन समूहों के प्रयासों से वनों के आच्छादन क्षेत्र में वृद्धि हुयी है। हालांकि, यह व्यवस्था अब भी विकसित होने की श्रेणी में है और इस प्रक्रिया में लाभानुदान, शक्तियों के मुद्दे भी उभर रहे हैं। कुछ मामलों में आधिकारिक वन प्रबंधक अब भी लोगों से शक्तियां बांटने में संकीर्ण बने हुये हैं।

बेहतर जैव–भौतिक पर्यावरण, सामुदायिक जरूरतों की पूर्ति, प्रभावी संसाधन उत्पादन, सामुदायिक विकास एवं गरीबी उन्मूलन के लिहाज से सहभागी वन प्रबंधन प्रक्रिया के खासे लाभ देखे गये हैं। इस तरह के परिणामों की वजह स्पष्ट और स्थायी नीतियां, नियम और उन्हें समयबद्ध तरीके से लागू किया जाना तथा आम जनता की क्षमताओं की पहचान कर सकारात्मक दिशा में इनका उपयोग करना, सरकार व समुदायों की ओर से उपयोगी संस्थानात्मक व्यवस्था, तकनीकी और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मानव संसाधन का विकास, हितधारकों और समुदायों को प्रक्रिया में सहभागी बनाना, संचार एवं प्रशिक्षण की सतत प्रक्रिया आदि हैं। हालांकि, ये सभी शर्तें सभी परिस्थितियों में नहीं मिल पाती हैं। परिणामस्वरूप सहभागी प्रबंधन अपने लक्ष्य

को पूरा करने में पूरी तरह सफल नहीं हो पाता। ऐसे में यह आवश्यक है कि सहभागी वन प्रबंधन (Participatory Forest Management) के लिये उचित वातावरण का भी निर्माण किया जाये।

8.22: पहुंच, समानता और संबंध (Accessibility, Equity and Linkages)

पहुंच (Accessibility)

दुर्गम क्षेत्र, दुर्लभ भौगोलिक परिस्थितियां और पहुंच के सीमित अवसर, ये सब पर्वतीय क्षेत्रों के सामान्य लक्षण हैं और सामान्य तौर पर यही विकास में बाधा भी बनते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों तक पहुंच के बढ़ने का सीधा अर्थ सड़क निर्माण, स्कूल, अस्पताल और अन्य सुविधा केन्द्रों की स्थापना से ही लगाया जाता है। लेकिन, असल में पहुंच का अर्थ भौतिक विकास से कहीं अधिक है। कटे हुए अथवा स्वयं तक सीमित समाज (Closed Society) के एकाकीपन को समाप्त कर विस्तृत बाजार से इसका संपर्क जोड़ना और वित्तीय–आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा देना पहुंच का मूल तत्व है।

सदियों से सबसे अलग–थलग रहने वाले पर्वतीय क्षेत्रों में पहुंच के बढ़ते दायरों ने सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह के प्रभाव दिखाये हैं। यहां पहुंच की जरूरत को स्पष्ट रूप से जानना–समझना आवश्यक होता है। यह देखा गया है कि पहुंच के अवसर बढ़ने से बेहतर आय के भी दरवाजे खुलते हैं। पहुंच के बढ़ने से पर्वतीय क्षेत्रों में नकदी फसलों के उत्पादन, कृषि विशेषीकरण, पर्यटन, पर्वतीय उद्यम जैसे बिन्दुओं का विकास तेजी से हुआ है। इससे आगे, जब भौतिक पहुंच अन्य आवश्यक सहायक बिन्दुओं, जैसे ऋण व्यवस्था, प्रशिक्षण, तकनीक, ऊर्जा तक जाती है तो इससे और तेज आर्थिक विकास संभव हो पाता है, जो समानता को बनाये रखने के साथ जीवनस्तर में सुधार का जरिया बन सकती है।

पर्वतीय क्षेत्रों में निर्माण और रखरखाव की उच्च लागत परिवहन एवं संचार सुविधाओं की राह में बड़ी बाधा बनती हैं। लागत जहां भी लगती है, वहां हमेशा उसका निवेश के रूप में लाभ मिलने का प्रश्न खड़ा हो जाता है। दूसरी ओर, पर्वतीय क्षेत्रों का नाजुक होना यहां अवस्थापना विकास को प्राकृतिक आपदाओं का सबब भी बना देता है। ऐसे में इन चुनौतियों से निपटने के लिये तकनीकी क्षमता का होना अत्यावश्यक है। पहुंच का अधिक बढ़ जाना प्राकृतिक पर्वतीय संसाधनों के अंधाधुंध दोहन की भी वजह बन सकता है, जिसका बहुत कम ही लाभ पर्वतीय लोगों और पर्वतीय पर्यावरण को मिल पाता है। वृहद् बाजारी अर्थव्यवस्था से पर्वतीय क्षेत्रों का संबंध पारंपरिक सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास के रूप में भी सामने आता है, जिनकी वजह से संसाधनों पर अधिकार के पारंपरिक नियम बदल सकते हैं और इसके कारण गांवों से शहरों की ओर पलायन बढ़ सकता है।

पर्वतीय क्षेत्रों में पहुंच बढ़ाने के लिये तैयार की जाने वाली नीतियों के लिये आवश्यक है कि उनमें हितधारकों की क्षमताओं की पहचान अच्छी तरह की गयी हो और उनकी भूमिकाएं भी स्पष्ट हों। इन नीतियों में स्थानीय उत्पादों को महत्व देने के साथ विपणन की भी व्यवस्था होनी चाहिये। तकनीकी क्षमता का विकास भी जरूरी है। हिन्दूकुश हिमालयी क्षेत्र में कुछ जगहों पर पर्यावरण अनुकुल 'ग्रीन रोड' का निर्माण किया गया है, जो खास मौसम में ही राजमार्गों से जुड़ते हैं। इस तरह की सड़कों के निर्माण में न तो भारी उपकरणों का इस्तेमाल किया जाता है, न ही पर्यावरण पर ये गलत प्रभाव डालते हैं। इनके निर्माण

से निर्धन लोगों को मौसमी रोजगार उपलब्ध हो पाता है। इसी तरह दुर्गम क्षेत्रों में रज्जूमार्ग (Ropeway) भी सामान और अनाज को एक से दूसरे स्थान तक पहुंचाने का बेहतरीन माध्यम हैं। कुछ समुदाय सड़कों के बजाय ट्रेकिंग रूट्स को ज्यादा महत्व देते हैं और उनका यह कदम ग्रामीण पर्यटन को बढ़ावा देने का जरिया भी बना है। अवस्थापना प्रबंधन की विकेन्द्रीकृत व्यवस्था पर्वतीय क्षेत्रों में प्रभावी सिद्ध हुयी है। The Food for Work Programme सड़कों के निर्माण के लिये लागू किया गया था, जिसे स्थानीय संस्थानों से और अधिक बेहतर तरीके से जोड़ा जा सकता था। सामाजिक सेवाओं और सहायक व्यवस्थाओं को भी पहुंच बढ़ाने वाली गतिविधियों से संबद्ध किया जाना चाहिये। पर्वतीय संस्कृति, ग्रामीण पर्यटन का विकास, संसाधन उत्पादन को बढ़ावा देना, पहुंच के अवसरों की सामाजिक एवं पर्यावरणीय लागत को कम करना और सड़कों के रखरखाव के लिये व्यवस्था का विकास आदि वे पहलू हैं, जिन पर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता महसूस होती है।

समानता (Equity)

मौजूदा विकास नीतियों को लेकर एक सवाल यह भी खड़ा होता है कि वे महिलाओं के प्रति भेदभावपूर्ण हैं और लैंगिक असमानता को बढ़ावा देती हैं। इस तरह की असमानताएं सीधे तौर पर संसाधनों तक महिलाओं की पहुंच, लाभ की स्थिति से उनकी दूरी और निर्णय लेने की क्षमताओं में कमी, दायित्वों–भूमिकाओं में कटौती से जुड़ी रहती हैं। इस तरह की स्थिति से निपटने के लिये नीतियों के निर्माण के दौरान 'Gender Audit' की व्यवस्था की जानी चाहिये, जिसका मकसद यह मूल्यांकन करना हो कि लैंगिक समानता का भाव नीतियों में अनिवार्य रूप से बना रहे। नीतियों को न सिर्फ महिलाओं पर केन्द्रित होना चाहिये, बल्कि पुरुषों–महिलाओं दोनों की स्थितियों में समान रूप से सहभागिता एवं लाभ के वितरण के जरिये सुधार करना चाहिये। हालांकि, इस तरह की नीतियों को लागू करने से पहले क्षेत्र विशेष के सामाजिक–आर्थिक सन्दर्भों को भी ध्यान में रखना जरूरी होता है। लेकिन हर मामले में समानता का भाव आवश्यक है, चाहे वह संसाधनों के वितरण की व्यवस्था हो या फिर सुविधाओं की उपलब्धता की। समानता का भाव विकसित करने के लिये एक महत्वपूर्ण साधन महिलाओं के लिये शिक्षा एवं स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों का संचालन है।

महिला सशक्तीकरण की दिशा में महिला संगठनों का जाल महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। ऐसे में किसी भी विकास कार्यक्रम में समूह गठन और सामुदायिक गतिशीलता को स्थान दिया जाना आवश्यक है। लैंगिक भेदभाव की समस्याओं से निपटने के लिये मौजूदा कानूनी ढांचों में भी बदलाव की जरूरत महसूस होती है, उदाहरण के लिये– भूमि स्वामित्व पर वंशानुगत अधिकार। आर्थिक स्वतंत्रता के जरिये भी लैंगिक समानता के लक्ष्य को हासिल किया जा सकता है। सामाजिक समानता के लिये पिछड़े समुदायों की संसाधनों, अवसरों और सुविधाओं तक पहुंच बढ़ाना आवश्यक होता है। यह निर्विवाद तथ्य है कि लैंगिक और सामाजिक समानता का लक्ष्य हासिल करने के लिये महिला सशक्तीकरण आवश्यक है, इसके लिये यह जरूरी है कि नीतियों से जुड़ने वाले सभी पक्षों को इस दिशा में संवेदनशील बनाकर जागरूक किया जाये। इसके लिये क्षेत्रविशेष की जरूरतों, परंपराओं के सन्दर्भों को ध्यान में रखा जाना चाहिये। कुछ समुदायों में लैंगिक समानता को पुरुषों को संवेदनशील बनाकर आसानी से हासिल किया जा सकता है।

मैदानी–पर्वतीय क्षेत्र संबंध और वैश्वीकरण (Highland-Lowland linkage & Globalization)

वैश्वीकरण के विस्तार का असर दुनियाभर में देखा जा सकता है और पर्वतीय क्षेत्र भी इससे अछूते नहीं हैं। सदियों तक अलग–थलग रहने वाले और बाहरी दुनिया से बेहद सीमित आर्थिक संबधों वाले पर्वतीय क्षेत्र अब मैदानी क्षेत्रों से सामाजिक–आर्थिक गतिविधियों, राजनीतिक प्रभावों, संसाधनों के जरिये पहले से कहीं अधिक बेहतर ढंग से जुड़े हुये हैं। प्राकृतिक संसाधनों के व्यवसाय, मानव संसाधन विनिमय, तकनीकों के हस्तांतरण और सूचनाओं का आदान–प्रदान मौजूदा संपर्कों–संबंधों के मूल बिन्दु हैं। पर्वतीय क्षेत्रों और मैदानी क्षेत्रों के बीच बेहतर संबंध स्थापित करने की कोशिशों के पीछे यह बिन्दु बड़ी वजह था कि असमान आर्थिक गतिविधियों के चलते पर्वतीय क्षेत्र मैदानी क्षेत्रों के मुकाबले काफी पीछे रह गये हैं। पर्वतीय क्षेत्र प्रायः राजनीतिक रूप से भी उपेक्षित रहते हैं, क्योंकि राष्ट्रीय नीतियों में भी इन्हें उतना अधिक महत्व नहीं दिया जाता। पर्वतीय क्षेत्रों से संसाधनों का मैदानी क्षेत्रों की ओर बहाव निरंतर बना हुआ है। इसके बावजूद पर्वतीय समुदायों को बाजारी अर्थव्यस्था में बेहतर अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते हैं।

बदलते दौर में पर्वतीय अर्थव्यवस्था को भी वैश्वीकरण की चुनौतियों से जूझना होगा। ऐसे में यह आवश्यक है कि पर्वतीय समुदाय भावी परिवर्तनों के लिये तैयार हों और इनसे लाभ लेना सीख सकें। भविष्य में पर्वतीय और मैदानी क्षेत्रों के बीच व्यापार की बढ़ोतरी संभव है, इसके लिये पर्वतीय क्षेत्रों का विशेष उत्पादों के उत्पादन के लिये सक्षम होना आवश्यक है। भविष्य में पर्वतीय क्षेत्रों के मैदानी क्षेत्रों के संपूरक के रूप में प्रतिष्ठित होने की पूरी संभावना है। इसी तरह विभिन्न व्यावसायिक उत्पादों के व्यापार के लिये तुलनात्मक रूप से लाभ लेने के बेहतर अवसर भी मिल सकते हैं। यह अवश्यंभावी है कि पर्वतीय क्षेत्र बाहर से अधिक निवेश को आकर्षित करने में सक्षम हो सकेंगे। अवस्थापना विकास, संसाधनों के पुनर्विकास, प्राकृतिक संसाधनों के सतत उपयोग के लिये निजी निवेशकर्ता पर्वतीय क्षेत्रों की ओर बढ़ सकते हैं। लेकिन, इन सबका विपरीत असर भी नजर आ सकता है। इसकी वजह यह है कि इस तरह की स्थितियों में पहले से चला आ रहा निगरानी, नियंत्रण तंत्र और लाभ वितरण की व्यवस्था कमजोर पड़ने की आशंका बढ़ जायेगी। इसके अलावा महिलाओं के सामने एक बार फिर उपेक्षित हो जाने, चूंकि महिलाओं द्वारा संभाले जाने वाले कुटीर उद्यमों को इससे खतरा हो सकता है, की आशंका बनेगी। पर्वतीय क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की प्रतिद्वंद्विता भी बढ़ जायेगी।

विश्व व्यापार संगठन (WTO) ने प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन को तो अपनी प्राथमिक कार्यसूची में शामिल किया है, लेकिन पर्वतीय क्षेत्रों और उनके उत्पादों को कोई विशेष स्थान अब तक इसमें नहीं दिया गया है। देशों में पर्वतीय क्षेत्रों की विविधताओं और संसाधनों से लाभ कमाने की कोशिशों के चलते पर्वतीय क्षेत्रों की राजनैतिक भूमिका भविष्य में और बढ़ सकती है। हालांकि, पर्वतीय समुदायों के लिये यह आवश्यक है कि वे लगातार बदलते आर्थिक अवसरों को पहचानें और स्वयं को द्रुतगति से परिवर्तित होने वाले बाजार के अनुरूप ढालते रहें। इसके साथ ही निवेश की दिशा तय करने, नकारात्मक बाहरी प्रभावों से बचाव और संसाधनों में कमी की समस्या से जूझने के लिये निगरानी तंत्र की भी आवश्यकता है। यह तंत्र ऐसा होना चाहिये जो पर्वतीय क्षेत्रों के उत्पादों की गुणवत्ता पर जोर दे। इसके लिये व्यावसायिक उत्पादों का नियमित उत्पादन आवश्यक है, शोध और विकास कार्यों की जरूरत है ताकि नयी उत्पादन क्षमताओं और अवसरों को पहचाना जा सके। पर्वतीय समुदायों को भी परस्पर समन्वय, सहयोग की भावना विकसित करनी होगी। उन्हें मानव संसाधन विकास, उद्यम कौशल के विकास की भी जरूरत होगी, ताकि वे अपने पारंपरिक कौशल और ज्ञान को लाभ की दिशा में मोड़ सकें।

8.23: सन्दर्भ (References)

1. Alagh, Y.K. (1990) 'Agro-Climatic Planning and Regional Development'. In Indian Journal of Agricultural Economics, Vol. 45 (3): July to September.
2. Basu, D.N.; Guha, G.S. (1996) Agro Climatic Regional Planning in India. New Delhi: Concept Publishing Company.
3. Chand, R. (1996a) 'Ecological and Economic Impact of Horticultural Development in the Himalayas: Evidence from Himachal Pradesh'. In Economic and Political Weekly, Vol.31 (26): A-93 - A-99, June 29.
4. Chand, R. (1996b) 'Agricultural Diversification and Farm and Non-farm Employment in Himachal Pradesh'. In Indian Journal of Labour Economics, Vol.39 (4): 841- 852, October – December.
5. Chand, R. (1996c) 'Diversification through High Value Crops in Western Himalayan Region: Evidence from Himachal Pradesh'. In Indian Journal of Agricultural Economics Vol.51 (4): 652-663, Oct -Dec.
6. Chand, R. (1997) Agricultural Diversification and Development of Mountain Region. New Delhi: M.D. Publication.
7. Chand, R. (1999) 'Emerging Trends and Regional Variations in Agricultural Investments and Their Implications for Growth and Equity.' Draft Project Report, National Centre for Agricultural Economics and Policy Research, New Delhi.
8. CSO (1984) Statistical Abstract of India. New Delhi: Central Statistical Organisation CSO (1998) Statistical Abstract of India. New Delhi, Central Statistical Organisation Ministry of Agriculture (1982, 1987 & 1992) Livestock Census. New Delhi: Government of India.
9. Gandhi, M.K. 1941. Constructive Programme : Its meaning and places. Navjeevan Publishing House, Ahmedabad : 9-20.
10. Hegde, N.G. 1999. Development of Infrastructure for Rural Prosperity. Presented at the NIRD Foundation Day Seminar on "Rural Prosperity and Agriculture : Strategies and Policies for the next millennium". National Institute of Rural Development, Hyderabad: 10 pp.
11. Maheshwari, S.R. 1985. Rural Development in India : A Public Policy Approach. SAGE Publications, New Delhi : 35-51.
12. Ministry of Agriculture (1999) Indian Agricultural Statistics. New Delhi: Government of India, Ministry of Agriculture.
13. NIRD. 1999. India Development Report – 1999 : Regional disparities in development and poverty. National Institute for Rural Development, Hyderabad : 198 pp.
14. NSSO (1996) Nutritional Intake in India. Fifth Quinquennial Survey of Consumer Expenditure (July 1993-June 1994) New Delhi: National Sample Survey Organisation, Government of India.
15. Paul Choudhary, D. 1990. Voluntary effort in social welfare and development. Siddartha

Publishers, New Delhi : 86-110.

16. Planning Commission (1992) Eight Five-year Plan (1992-1997). New Delhi: Planning Commission, Government of India.
17. Sachidananda. 1988. Social Change in Village India. Concept Publishing Co. New Delhi : 71-84.
18. Shah, S.L. (1992) 'Tribal Economy in India with Special Reference to the Himalayan Region – Important Development Issues'. In Indian Journal of Agricultural Economic, Vol.47 (3): July to September.
19. Swarup, R. (1992) Agricultural Economy of Hill Region. Nainital: Gyanodya Prakashan.
20. Thapliyal, B.K. 1995. Decentralised planning in the Panchayati Raj Frame. In 'Emerging Trends in Panchayati Raj (Rural local self-government) in India'. NIRD, Hyderabad : 71-102.